विश्व के प्रमुख धर्मों में धर्म समभाव की अवधारणा

एक तुलनात्मक अध्ययन

लेखिका:
डॉ. निर्मल गर्ग

Digital India
Power To Empower

स्वच्छ भारत
एक कदम स्वच्छता की ओर

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग)
भारत सरकार

विश्व के प्रमुख धर्मों में धर्म समभाव की अवधारणा : एक तुलनात्मक अध्ययन

लेखिका
डॉ. निर्मल गर्ग
विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजकीय जा. दे. ब. स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय
कोटा (राजस्थान)

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग)
भारत सरकार
2005

© भारत सरकार, 2005
© Government of India, 2005
प्रथम ई-संस्करण, 2019

प्रकाशक :
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग,
मानव संसाधन विकास मंत्रालय,
(माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग)
पश्चिमी खंड–7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली–110 066

मूल्य:देश में:490 रु.
विदेश में: £ 6.28 और $ 10.98

बिक्री हेतु संपर्क सूत्र :
(1) वैज्ञानिक अधिकारी (बिक्री)
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग,
पश्चिमी खंड 7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली–110 066

(2) **प्रकाशन नियंत्रक**
प्रकाशन विभाग, भारत सरकार
सिविल लाइन्स
दिल्ली–110 054

अध्यक्ष की कलम से

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, उच्चतर शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, 1961 में अपनी स्थापना समय से ही, उसे सौंपे गए कार्य-भार अनुसार भारतीय भाषाओं में शिक्षा माध्यम परिवर्तन हेतु विभिन्न विषयों में भारतीय भाषाओँ की मानक शब्दावली तथा विश्वविद्यालय स्तरीय विभिन्न विषयक पुस्तकों का निर्माण एवं प्रकाशन करता आ रहा है । इस दीर्घ अवधि में आयोग ने विभिन्न आवश्यक विषयों से संबंधित अंग्रेजी-हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषा शब्दावलियों का निर्माण एवं प्रकाशन किया है । इक्कीसवीं सदी के सूचना प्रौद्योगिकी के इस दौर में शिक्षा एवं ज्ञानार्जन के साधन को सद्यः उपलब्धता में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है । ई-गवर्नेंस, ई-व्यवसाय एवं डिजिटल इंडिया जैसे क्रिया-कलाप दैनंदिन जीवन के अंग हो गए हैं। ऐसे में आयोग ने भी इन अधुनातन साधनों का उपयोग करने का निश्चय किया । इस क्रम में आयोग द्वारा निर्मित सभी शब्दावलियों, परिभाषा-कोशों का ई-संस्करण आपको सहज रूप से उपलब्ध कराने के उद्देश्य से ई-बुक निर्माण योजना पर कार्य प्रारंभ किया गया है । इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु **'विश्व के प्रमुख धर्मो में धर्म समभाव की अवधारणा: एक तुलनात्मक अध्यन'** का ई-बुक का संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है ।

मुझे इस पुस्तक का ई-संस्करण आप सबको सुलभ कराते हुए अत्यंत हर्ष हो रहा है । इसी भांति आयोग द्वारा अन्य विषयों के भी हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की शब्दावली, परिभाषा-कोशों का ई-संस्करण प्रकाशित करने के कार्य भी प्रगति पर है । आयोग को सौंपे गए महत्वपूर्ण दायित्व में से एक दायित्व, निर्मित शब्दवलियाँ प्रयोक्ताओं तक पहुँचाने का रहा है । इलेक्ट्रोनिक माध्यम से आयोग अपने प्रकाशनों के प्रचार-प्रसार में अधिक प्रभावशाली होगा । मुझे आशा है आयोग द्वारा किए जा रहे इस प्रयास से निर्मित शब्दावलियाँ जन-जन तक पहुंचेगी साथ ही सभी जिज्ञासु इस ई-संस्करण का अधिक से अधिक लाभ उठा सकेंगे।

प्रो. अवनीश कुमार
अध्यक्ष

विश्व के प्रमुख धर्मो में धर्म समभाव की अवधारणा: एक तुलनात्मक अध्यन ई-शब्द संग्रह निर्माण से संबद्ध आयोग के अधिकारी

प्रधान संपादक

प्रो. अवनीश कुमार

अध्यक्ष

संपादक

डॉ. अशोक एन. सेलवटकर

(सहायक निदेशक)

श्री शिव कुमार चौधरी

(सहायक निदेशक)

श्री जय सिंह रावत

(सहायक वैज्ञानिक अधिकारी)

श्रीमती चक्प्रम बिनोदिनी देवी

(सहायक वैज्ञानिक अधिकारी)

सुश्री मर्सी ललरोहलू हमार

(सहायक वैज्ञानिक अधिकारी)

पुनरीक्षण एवं संपादन

प्रधान संपादक
डा. के. बिजय कुमार

संपादक
शशि गुप्ता

पुनरीक्षक
डॉ. प्रेमलता,
रीडर एवं अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग
गनपत सहाय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
सुल्तानपुर (उत्तर प्रदेश)

प्रकाशन एकक
श्री राम बहादुर
उपनिदेशक

श्री धर्मेन्द्र कुमार
सहायक निदेशक

श्री आलोक वाही
कलाकार

आयोग के पूर्व अध्यक्ष

1.	डॉ. दौलत सिंह कोठारी	1961-1965
2.	डॉ. निहाल करण सेठी	1965-1966
3.	डॉ. विश्वनाथ प्रसाद	1966-1967
4.	डॉ. एस. बाल सुब्रह्मण्यम	1967-1968
5.	डॉ. बाबूराम सक्सेना	1968-1970
6.	श्री कृष्ण दयाल भार्गव	1970-1970
7.	श्री गंटि जोगि सोमयाजी	1970-1971
8.	डॉ. पी. गोपाल शर्मा	1971-1975
9.	प्रो. हरवंश लाल शर्मा	1975-1980
10.	प्रो. मलिक मोहम्मद	1983-1987
11.	प्रो. सूरजभान सिंह	1988-1994
12.	प्रो. प्रेमस्वरूप सकलानी	1994-1998
13.	डॉ. हरीश कुमार	1998-1998
14.	डॉ. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव	1998-2001
15.	डॉ. हरीश कुमार	2001-2003
16.	डॉ. पुष्पलता तनेजा	2003-2005

वर्तमान अध्यक्ष

17.	प्रो. के. बिजय कुमार	2005-

आमुख

भारत सरकार ने विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा माध्यम के रूप में हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के विकास के लिए तत्कालीन शिक्षा मंत्रालय (अब मानव संसाधन विकास मंत्रालय) के अधीन सन् 1961 में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की स्थापना की थी। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आयोग ने विज्ञान तथा मानविकी के विभिन्न विषयों में अनेक शब्द-संग्रहों, परिभाषा-कोशों, चयनिकाओं, पत्रिकाओं, पाठमालाओं तथा विश्वविद्यालय स्तरीय मानक हिंदी पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण एवं प्रकाशन किया है।

पाठमालाओं के निर्माण में इस बात का ध्यान रखा गया है कि उसकी विषय-सामग्री अद्यतन तथा उपयोगी हो और भाषा सरल, बोधगम्य एवं आकर्षक हो ताकि अध्यापक भी हिंदी माध्यम से अपने-अपने विषय को पढ़ाने में सक्षम हो सकें और पाठकगण रुचि ले सकें।

प्रस्तुत पुस्तक 'विश्व के प्रमुख धर्मों में धर्म समभाव की अवधारणा : एक तुलनात्मक अध्ययन' राजकीय जा. दे. ब. कन्या महाविद्यालय की दर्शनशास्त्र विभाग की विभागाध्यक्ष, डॉ. निर्मल गर्ग द्वारा लिखी गई है। पुस्तक की समग्र सामग्री छः सोपानों में विन्यस्त है। विदुषी लेखिका ने दर्शनशास्त्र के सभी पहलुओं पर गहनता से लेखनी चलाई है। पुस्तक का पुनरीक्षण गनपत सहाय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सुल्तानपुर में दर्शनशास्त्र विभाग की रीडर एवं अध्यक्ष, डॉ. प्रेमलता ने किया है। यह कार्य लेखक, अनुवादक और पुनरीक्षक के अथक प्रयास से संपन्न हुआ है जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

पुस्तक में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा निर्मित पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तक की भाषा सरल, बोधगम्य और प्रवाहपूर्ण है और पुस्तक के अंत में संदर्भ तथा शब्दावली सूचियाँ भी दी गईं हैं। इसकी उपादेयता में वृद्धि करने के लिए आयोग द्वारा स्वीकृत शब्दावली निर्माण के सिद्धांत तथा आयोग के प्रकाशनों की सूचियाँ भी दी गई हैं।

मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

के वि कुमार

वर्ष, 2005

(प्रो. के बिजय कुमार)
अध्यक्ष

प्राक्कथन

मानव जीवन में धर्म का अपना विशिष्ट स्थान है। अतः प्राचीन काल से ही मानव धर्म के संबंध में विविध रूपों में चिंतन प्रस्तुत करता रहा है। प्रकृति की परिवर्तनशीलता और मानव के विकास के साथ-साथ धर्म-धारणा में भी निरंतर परिवर्तन, परिष्कार तथा विकास उदात्तता की ओर होता चलता गया है। सभी धर्म मानव जाति के उत्थान और एकता के लिए विकसित हुए हैं। सभी धर्म इसके लिए प्रेम, सौहार्द, सौमनस्यपूर्णता तथा समत्वभाव का चिंतन प्रस्तुत करते हैं, तथापि धर्म को लेकर मानव समाज में हिंसा, द्वेष, वैमनस्य और वैर-विरोध पाए जाते हैं। सामान्य मानव के मस्तिष्क में धर्म के नाम पर या तो मंदिर, मस्ज़िद, गुरुद्वारा, चर्च, अगियारि आदि स्मृति में आते हैं, या फिर वेद, उपनिषद, गीता, रामायण, पुराण, त्रिपिटक, आगम शास्त्र, कुरआन, ज़ेन्द-अवेस्ता, कर्मकाण्ड, पूजा-पाठ, प्रार्थना, नमाज़ आदि। किंतु धर्म यहीं तक सीमित नहीं है।

धर्म के व्यापक धरातल को प्रस्तुत करने की दृष्टि से एवं धर्मानुयायियों में व्याप्त कट्टरता, विद्वेष, सांप्रदायिकता तथा हठधर्मिता को दूर करने की दृष्टि से 'धर्म समभाव' की धारणा चिंतकों द्वारा प्रस्तुत की गई है। परंतु स्वयं इसके (धर्म समभाव) विषय में भी कालांतर में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण निर्मित होते गए। यही कारण है कि धर्म और धर्म समभाव का संगत अर्थ सही परिप्रेक्ष्य में उसके सभी पक्ष-उपपक्ष के साथ प्रस्तुत किया जाना आधुनिक काल की महती आवश्यकता बन गई है। अतएव इसकी प्रासंगिकता को देखते हुए प्रस्तुत शोध-प्रबंधात्मक पुस्तक 'विश्व के प्रमुख धर्मों में धर्म समभाव की अवधारणा : एक तुलनात्मक अध्ययन' लिखी गई है। यह पुस्तक विश्व वांङ्मय में उपलब्ध भिन्न-भिन्न, मान्य प्रमुख धर्मों की प्रकृति एवं चिंतन प्रक्रिया को दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में समझ कर उनकी सामान्य एवं सार्वभौमिक धर्म समभावी चिंतनधारा का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का एक विनम्र प्रयास है।

प्रस्तुत पुस्तक जहाँ एक ओर विश्व के विभिन्न मान्य प्रमुख धर्मों के प्रत्ययों को स्पष्ट करते हुए धर्म समभाव के विभिन्न मौलिक आधारों एवं पहलुओं को उजागर करती है, वहीं दूसरी ओर परंपरागत धर्मों के व्यावहारिक-आचरणात्मक पक्ष के रूप में पाए जाने वाले भेद-चिंतन को भी स्पष्ट करती है। धर्मों में देश-काल और परिस्थितियों के आधार पर उत्पन्न भिन्नताओं की स्वाभाविकता को मानते हुए भी मूल धर्म के स्वरूप के आधार पर धर्म समभाव को दिशाव्यापी गति प्रदान करती है।

यह परंपरागत धर्मों के स्वरूप को यथावत रूप में प्रस्तुत करती है, साथ ही समकालीन चिंतकों के द्वारा प्रस्तुत धर्म समभाव संबंधी चिंतन की गवेषणात्मक, विश्लेषणात्मक, मौलिक समीक्षापूर्ण व्याख्याएँ करते हुए वर्तमान युगानुरूप — प्रायः सर्वमान्य हो सकने वाले सर्वधर्म

समभावपूर्ण धर्म के रूप में सार्वभौमिक विश्वधर्म की सैद्धांतिक व व्यावहारिक परिणति के बारे में भी नवीन उपयोगी चिंतन प्रस्तुत करती है। यह चिंतन मानव के तीनों पक्षों, यथा – ज्ञान, भाव तथा क्रिया को समावेशित करता है। आशा है कि यह नवीन-अन्वेषणकारी, तुलनात्मक, मौलिक चिंतन मानव और मानव समाज में धर्म समभाव को व्यावहारिक गति प्रदान करेगा।

उक्त पुस्तक पठन-पाठन तथा शोध की दृष्टि से भी उपयोगी सिद्ध होगी। यद्यपि विश्व के धर्मों की एकता, समन्वयन आदि के संबंध में वैसे तो कई ग्रंथ एवं विचार प्रकाशित हो चुके हैं, परंतु धर्म समभाव के विषय में निष्पक्ष रूप में उसकी विशेषताओं अथवा आधार तत्वों का निर्धारण कर उसका स्पष्ट, व्यवस्थित, व्यापक शोधपरक विवेचन अभी तक नहीं किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक इस अभाव की पूर्ति करती है। इसमें मौलिक ग्रंथों की सामग्री को ही, बिना किसी परिवर्तन के तुलना, विवेचना और समीक्षापूर्ण समालोचना का मूलाधार बनाया गया है। इससे धर्म एवं धर्म समभाव के अध्ययनकर्त्ता तथा जिज्ञासु पाठक वृंद को विभिन्न प्रामाणिक मूल ग्रंथों में विवेचित अधिकांश सामग्री इस एक ही पुस्तक में मिल जाने से मान्य प्रमुख धर्मों (हिंदू धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म एवं इस्लाम धर्म) तथा धर्म समभाव और समकालीन आधुनिक चिंतकों के चिंतन पर समीक्षात्मक अध्ययन की विशेष सुविधा प्राप्त होगी। धर्मों का अध्ययन कर उनका मूल स्वरूप जानने के प्रति इनकी अभिरुचि बढ़ेगी।

कई महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में ऑनर्स, स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं में 'समकालीन धर्म-दर्शन तथा 'विश्व के प्रमुख धर्म' नामक प्रश्न-पत्रों का अध्यापन दर्शनशास्त्र विषय के अंतर्गत कराया जाता है। प्रस्तुत पुस्तक में धर्मों के मूल प्रत्ययों का विवेचन धर्मों के संबंध में यथाशक्ति उन्हें निष्पक्ष, सटीक ज्ञानबोध कराएगा, अर्थात् स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए भी पाठ्यक्रम दृष्टि से उक्त पुस्तक उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

व्यवस्थित तुलनात्मक दृष्टिकोण के आधार पर धर्म समभाव की परिणति सामान्यतः बहुत सुखद नहीं है। सर्वत्र न्यूनाधिक मात्रा में रंगभेद, जातिभेद, हिंसा, असहिष्णुता, दंगे, फ़साद तथा अराजकता का वातावरण है। विभिन्न धर्मानुयायियों व सामान्य-जन के जीवन में 'कथनी एवं करनी का अंतर' व्याप्त है। अतः धर्म समभाव पर तथा धर्म समन्वय पर समग्ररूपेण युगानुरूप दृष्टिकोण से चिंतन करना और भी अधिक आवश्यक हो जाता है। प्रस्तुत पुस्तक धर्म-दर्शन की एक महत्वपूर्ण शृंखला के रूप में इस लक्ष्य की पूर्ति करती है। इसके अध्ययन से सभी संबद्ध पक्ष, यथा – धार्मिक व्यक्ति, चिंतक, दार्शनिक, शोधकर्त्ता, अनुयायी, सामान्यजन आदि लाभान्वित हो सकेंगे।

समकालीन चिंतन धारा के अंतर्गत दार्शनिकों एवं चिंतकों की नज़रों से ओझल-प्रायः अथवा उपेक्षित रहे, परंतु युगधर्म एवं सत्यसमाज के प्रवर्त्तक, तार्किक मनस्वी स्वामी सत्यभक्त (पं. **दरबारी लाल**, न्यायशास्त्री) बोरगाँव, वर्धा (महाराष्ट्र) के विवेकपूर्ण धर्म समभावी चिंतन की दर्शन के क्षेत्र मे प्रथम बार शोधपरक और तुलनात्मक प्रस्तुति इस पुस्तक में की गई है। यह दर्शन-साहित्य तथा अनुसंधान में संलग्न शोधवेत्ताओं को चिंतन के नवीन दार्शनिक आयाम प्रदान करेगी। साथ ही समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, भाषाशास्त्र की अध्ययन प्रवृत्ति भी उनके मौलिक सिद्धांतों

की ओर प्रवृत्त हो सकती है। कारण कि सत्यामृत साहित्य तथा मानवभाषा (नई रचित भाषा) की रचना वैश्विक स्तर पर उनकी सर्वथा नवीन देन है जिस पर प्रायः अभी तक विद्वानों द्वारा चिंतन ही नहीं किया गया है।

अध्ययन क्रम में मुझे आधुनिक समकालीन चिंतक एवं सत्यसमाज तथा युगधर्म के प्रणेता स्वामी सत्यभक्त जी, सत्याश्रम, बोरगाँव, वर्धा (महाराष्ट्र) से धर्म तथा धर्म समभाव संबंधी विभिन्न जिज्ञासाओं का समाधान करने का स्वर्णिम अवसर मिला। उस युगदृष्टा के प्रति मेरा सादर नमन कि धर्म समभाव एवं युगानुरूप धर्म के निर्धारण हेतु विचारों को चिंतनपूर्ण गति प्रदान की।

मैं अपने आदरणीय पिता-मित्र गौरी शंकर जी गर्ग एवं पारिवारिक सदस्यों का हार्दिक आभार व्यक्त करना चाहूँगी जिनके अपूर्व स्नेह एवं विवेकपूर्ण संस्कारों ने मुझे इस ओर प्रोत्साहित किया और मुझे अनुसंधानात्मक वृत्ति की ओर अग्रसर किया। मैं कृतज्ञ हूँ, प्रो. एस.आर. व्यास, सा. विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, मो. ला. सु. विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान) के प्रति, जिनके स्नेहिल निर्देशन एवं सद्प्रेरणा से मैंने अपना शोधकार्य किया। मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहूँगी उन सभी मित्रों, सहकर्मियों और संस्थाओं को जिनके सहयोग से इस ग्रंथ का लेखन हो सका है। मैं अपने विद्यार्थियों को भी धन्यवाद देना चाहूँगी जिन्होंने चर्चाएँ एवं अपनी विविध जिज्ञासाएँ कर मुझे विषय-वस्तु को परिष्कृत रूप में प्रस्तुत करने को प्रेरित किया।

अंततः मैं डॉ. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव, पूर्व अध्यक्ष, तथा वर्तमान अध्यक्ष, डा. पुष्पलता तनेजा, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय (माध्यमिक और उच्च शिक्षा विभाग), भारत सरकार, नई दिल्ली को विशेष आभार प्रदर्शित करना चाहूँगी कि उन्होंने इस ग्रंथ की गुणात्मक उपादेयता को समझ कर आयोग द्वारा इसे प्रकाशित करने का सुझाव एवं सहयोगपूर्ण मार्गदर्शन प्रदान किया और प्रकाशन की सहर्ष अनुमति देकर मानवता के लिए उपकार किया है। वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के वैज्ञानिक अधिकारियों, शिक्षा अधिकारियों तथा प्रकाशन विभाग के समस्त कर्मचारियों के सहृदयतापूर्ण सहयोग से इस पुस्तक के प्रकाशन का कार्य पूर्ण हो सका है, इसके लिए उन सभी को हार्दिक धन्यवाद – आभार।

यह पुस्तक मानव जाति में 'स्व' (व्यष्टिगत) के परिष्कृत असीम विस्तार 'सर्व' (समष्टिगत) का विवेकपूर्ण भावबोध कराती हुई धर्म समभाव के आधार पर सबको 'समन्वयी एकात्मीकरण' सहृदयता और प्रेम की ओर प्रेरित करेगी, यह मेरा विश्वास है।

पुनःश्च सभी के प्रति हार्दिक आभार।

उदयपुर (राजस्थान)

डॉ. निर्मल गर्ग
5 घ 2, सेक्टर II
रामसिंह की बाड़ी, हिरणमगरी
उदयपुर-313002 (राज.)

समर्पण ...

तेरा तुझको अर्पण ...

- ❖ स्वयं संबुद्ध, विवेकपूर्ण सर्वधर्म समभावी विश्वधर्म एवं सत्यसमाज के प्रवर्त्तक तत्वलीन स्वामी सत्यभक्त जी, बोरगाँव, वर्धा (महाराष्ट्र) को –
- ❖ कुशल शब्दों के चितेरे कवि, चिकित्सक, बहु-भाषाविज्ञ, दर्शन एवं धर्म-मर्मज्ञ, सर्वधर्म समभावी, जादूगर, शिक्षक दादा जी तत्वलीन युगलकिशोर जी गर्ग (सत्यशरणानंद जी) को –
- ❖ तत्वलीन सहज, सरलचित्त, स्नेही माँ चंद्रकांता गर्ग को –

एवं

- ❖ चेतनात्मक स्तर पर सर्वधर्म समभाव के निष्पक्ष, विवेकपूर्ण बोध तथा व्यवहार के लिए समग्र मानव जाति को –

निर्मल गर्ग

संकेताक्षर (Abbreviation)

अथर्व.	:	अथर्ववेद
अभि. कोश	:	अभिधर्म कोश
आचा. सू.	:	आचारांग सूत्र
आव. भा.	:	आवश्यक भाष्य
आव. नि.	:	आवश्यक नियुक्ति
ईशावा. उप.	:	ईशावास्य उपनिषद्
उत्तरा. सू.	:	उत्तराध्ययन सूत्र
ऐतरेय उप.	:	ऐतरेय उपनिषद्
कठ. उप.	:	कठोपनिषद्
क़ुर. मज़ीद	:	क़ुरआन मज़ीद
क़ुर. शरीफ़	:	क़ुरआन शरीफ़
गीता	:	श्रीमद्भगवद्गीता
गरुड़ पु.	:	गरुड़ पुराण
छांदो. उप.	:	छांन्दोग्य उपनिषद्
तत्वा. सार	:	तत्वार्थ सार
तत्वा. सू.	:	तत्वार्थ सूत्र
ता. वृ.	:	तात्पर्य वृत्ति
तिलोयप.	:	तिलोयपण्णति
तैत्ति. उप.	:	तैत्तिरीय उपनिषद्
तैत्तिरीय ब्रा.	:	तैत्तिरीय ब्राह्मण

दशवै.	:	दशवैकालिक
दशवै. चूर्णि	:	दशवैकालिक चूर्णि
द्र. सं.	:	द्रव्य संग्रह
दीर्घ नि.	:	दीर्घ निकाय
नन्दी सू.	:	नन्दी सूत्र
पर. प्र.	:	परमात्म प्रकाश
पद्म पु.	:	पद्म पुराण
प्रव. सार	:	प्रवचन सार
पंचास्ति.	:	पंचास्तिकाय
पंचास्ति. सं.	:	पंचास्तिकाय संग्रह
प्रश्नव्या. सू.	:	प्रश्नव्याकरण सूत्र
प्रश्नव्या.	:	प्रश्नव्याकरण
पृ.	:	पृष्ठ
बोधपा.	:	बोध पाहुड़
बोधिचर्या.	:	बोधिचर्यावतार
ब्रह्मवै पु.	:	ब्रह्मवैवर्त्त पुराण
ब्रह्म सू., शां. भा.	:	ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य
बृह. उप.	:	बृहदार्ण्यक उपनिषद्
भग. आ.	:	भगवती आराधना
भग. सू.	:	भगवती सूत्र
भाग. पु.	:	श्रीमद्भागवत महापुराण
भार. दर्शन	:	भारतीय दर्शन
भावपा.	:	भाव पाहुड़
महाभा.	:	महाभारत
मज्झिम नि.	:	मज्झिम निकाय

मनु.	:	मनुस्मृति
मत्स्य पु.	:	मत्स्य पुराण
माध्य. का.	:	माध्यमिक कारिका
माण्डू. उप.	:	माण्डूक्य उपनिषद्
पूर्व मीमां. सू.	:	पूर्व मीमांसा सूत्र
मुण्डक. उप.	:	मुण्डकोपनिषद्
मोक्षपा.	:	मोक्षपाहुड़
यजु.	:	यजुर्वेद
याज्ञ, स्मृति	:	याज्ञवल्क्य स्मृति
युक्तानु.	:	युक्तानुशासन
राजवा.	:	राजवार्तिक
ललितवि., परि.	:	ललितविस्तार, परिवर्त
वराह पु.	:	वराह पुराण
विशेषा. भा.	:	विशेषावश्यक भाष्य
वेदा. सू.	:	वेदांत सूत्र
वे. सार	:	वेदांत सार
वैशै. सू.	:	वैशैषिक सूत्र
शतपथ ब्रा.	:	शतपथ ब्राह्मण
श्वेता. उप.	:	श्वेताश्वतरोपनिषद्
शीलपा.	:	शील पाहुड़
स. सि.	:	सर्वार्थ सिद्धि
समवा. सू.	:	समवायांग सूत्र
समाधि.	:	समाधिशतक
साम.	:	सामवेद
सांख्यका.	:	सांख्यकारिका

सांख्य प्र. सू.	:	सांख्य प्रवचन सूत्र
स्था. सू.	:	स्थानांग सूत्र
स्याद्. मं.	:	स्याद्वाद मंजरी
सूत्रकृ. सू.	:	सूत्रकृतांग सूत्र
सूत्रपा.	:	सूत्र पाहुड़
संयुक्त नि.	:	संयुक्त निकाय

Abbreviation

Col.	:	Colossians
I Cor.	:	I Corinthians
II Cor.	:	II Corinthians
I Chr.	:	I Chronicles
II Chr.	:	II Chronicles
Dan.	:	Danial
Deut.	:	Deuteronomy
Eccle.	:	Ecclesiastes
Exo.	:	Exodus
Ezek.	:	Ezekiel
Eph.	:	Ephisians
Gal.	:	Galatians
Gen.	:	Genesis
Heb.	:	Hebrews
Hag.	:	Haggai
Is.	:	Isaiah
Jer.	:	Jermiah
Judg.	:	Judges
Jur.	:	Jurnal
Lev.	:	Leviticus
Matt.	:	Matthew
Mala.	:	Malachi
Num.	:	Numbers
I Pet.	:	I Peter
II Pet.	:	II Peter

Prov.	:	Proverbs
Ps.	:	Psalms
Phile.	:	Philemon
Rev.	:	Revelations
Rom.	:	Romans
I Sam.	:	I Samuel
II Sam.	:	II Samuel
I Thess.	:	I Thessalonians
II Thess.	:	II Thessalonians
I Tim.	:	I Timothy
II Tim.	:	II Timothy

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

प्रथम सोपान : धर्म का स्वरूप 1-53

1.1 धर्म का अर्थ 1; 1.2 धर्म एवं रिलिजन 2; 1.3 धर्म की परिभाषा 4;
1.4 धर्म की आवश्यकता 21; 1.5 अन्य विषयों के साथ धर्म का संबंध :
क. धर्म एवं दर्शन 32; ख. धर्म एवं धर्मदर्शन 36; ग. धर्म एवं विज्ञान 38;
घ. धर्म एवं नैतिकता 42; 1.6 धर्म में वस्तु-तत्व एवं प्रतीक की अवधारणा 46

द्वितीय सोपान : धर्म समभाव की अवधारणा 54-83

2.1 धर्म समभाव का अर्थ एवं परिभाषा 54; 2.2 धर्म समभाव की विशेषताएं
एवं उसके आधार तत्व 65; 2.3 धर्म समभाव की आवश्यकता 78

तृतीय सोपान : पौर्वात्य धर्म एवं धर्म समभाव 84-183

3.1 हिंदू धर्म 84-116

1. ऐतिहासिक स्वरूप 86; 2. साहित्य 86; 3. धार्मिक प्रत्यय : क. परमसत्ता/
परमतत्व 89; ख. शरीरेतर चेतना 96; ग. कर्मवाद 99; घ. जगत 103
4. हिन्दू धर्म में धर्म समभाव की अवधारणा : i. चेतनात्मक आधार पर धम
समभाव 106; ii. अनासक्त (रोग-द्वेष से परे, निष्पक्ष) भाव के आधार पर
धर्म समभाव 108; iii. अन्य धर्मों/मतों के प्रति धर्म समभाव 111

3.2 जैन धर्म 116-148

1. ऐतिहासिक स्वरूप 117; 2. साहित्य 123; 3. धार्मिक प्रत्यय :
क. परमसत्ता/परमतत्व 124; ख. शरीरेतर चेतना 127; ग. कर्मवाद 132;
घ. जगत 138
4. जैन धर्म में धर्म समभाव की अवधारणा : i. चेतनात्मक आधार पर धम
समभाव 141; ii. अनासक्त (रोग-द्वेष से परे, निष्पक्ष) भाव के आधार पर
धर्म समभाव 143; iii. अन्य धर्मों/मतों के प्रति धर्म समभाव 144

3.3 बौद्ध धर्म 148-178

1. ऐतिहासिक स्वरूप 148; 2. साहित्य 151; 3. धार्मिक प्रत्यय :
क. परमसत्ता/परमतत्व 153; ख. शरीरेतर चेतना 157; ग. कर्मवाद 163;
घ. जगत 169

2—259 Min. of H.R.D./2005

4. बौद्ध धर्म में धर्म समभाव की अवधारणा : i. चेतनात्मक आधार पर धम समभाव 172; ii. अनासक्त (रोग-द्वेष से परे, निष्पक्ष) भाव के आधार पर धर्म समभाव 175; iii. अन्य धर्मों/मतों के प्रति धर्म समभाव 175

3.4 धर्म समभाव का तुलनात्मक अध्ययन 178

चतुर्थ सोपान : पाश्चात्य धर्म एवं धर्म समभाव 184-309

4.1 यहूदी धर्म 184-220

1. ऐतिहासिक स्वरूप 184; 2. साहित्य 186; 3. धार्मिक प्रत्यय : क. परमसत्ता/परमतत्व 187; ख. शरीरेतर चेतना 190; ग. कर्मवाद 196; घ. जगत 205
4. यहूदी धर्म में धर्म समभाव की अवधारणा : i. चेतनात्मक आधार पर धम समभाव 208; ii. अनासक्त (रोग-द्वेष से परे, निष्पक्ष) भाव के आधार पर धर्म समभाव 210; iii. अन्य धर्मों/मतों के प्रति धर्म समभाव 213

4.2 ईसाई धर्म 220-260

1. ऐतिहासिक स्वरूप 221; 2. साहित्य 223; 3. धार्मिक प्रत्यय : क. परमसत्ता/परमतत्व 224; ख. शरीरेतर चेतना 227; ग. कर्मवाद 234; घ. जगत 244
4. ईसाई धर्म में धर्म समभाव की अवधारणा : i. चेतनात्मक आधार पर धम समभाव 248; ii. अनासक्त (रोग-द्वेष से परे, निष्पक्ष) भाव के आधार पर धर्म समभाव 250; iii. अन्य धर्मों/मतों के प्रति धर्म समभाव 251

4.3 इस्लाम धर्म 260-304

1. ऐतिहासिक स्वरूप 261; 2. साहित्य 263; 3. धार्मिक प्रत्यय : क. परमसत्ता/परमतत्व 265; ख. शरीरेतर चेतना 271; ग. कर्मवाद 279; घ. जगत 284
4. इस्लाम धर्म में धर्म समभाव की अवधारणा : i. चेतनात्मक आधार पर धम समभाव 289; ii. अनासक्त (रोग-द्वेष से परे, निष्पक्ष) भाव के आधार पर धर्म समभाव 293; iii. अन्य धर्मों/मतों के प्रति धर्म समभाव 296

4.4 धर्म समभाव का तुलनात्मक अध्ययन 304

पंचम सोपान : विभिन्न प्रमुख धर्मों में अन्तर्निहित धर्म समभाव का तुलनात्मक अध्ययन (विश्लेषण-विवेचन) 310-345

5.1 चिंतनात्मक सैद्धांतिक पक्ष (शुक्ल पक्ष); 1. विश्व के प्रमुख धर्मों के सिद्धांतों में निहित धर्म समभाव की धारणाओं की तुलना 310; 2. विभिन्न प्रमुख धर्मों में धर्म समभाव की मान्य अवधारणाओं के आधार पर तुलना 315; 3. तत्व चिंतनः क. व्यष्टि (व्यक्ति) 320; ख. समष्टि (समाज/सृष्टि) 324;

ग. परमेष्ठी (परमसत्ता) 326; घ. संयमित उपभोग एवं विश्व कौटुम्बीकरण 327;
4. तात्विक पृष्ठभूमि में दार्शनिक अवधारणा 328

षष्ठ सोपान : धर्म समभाव एवं समकालीन चिंतन 346-416
6.1 स्वामी विवेकानंद 346; 6.2 डॉ. भगवानदास 357;
6.3 महात्मा गांधी 360; 6.4 डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् 374;
6.5 स्वामी सत्यभक्त 387

चित्र : सर्वधर्म समभावी सत्यसमाज एवं सत्यार के संस्थापक

उपसंहार 417-424

ग्रंथ संदर्भिका (Bibliography) 425-447

परिशिष्ट-एकः पारिभाषिक शब्दावली (Glossary/Terminology) 448-458

परिशिष्ट-दोः वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा
स्वीकृत शब्दावली-निर्माण के सिद्धांत 459-460

परिशिष्ट-तीनः आयोग के प्रकाशन 461-465

प्रथम सोपान

धर्म का स्वरूप

1.1 धर्म का अर्थ :

मानव जीवन अनेक पक्षात्मक होता है, उनमें से धर्म और धर्म से उसकी संबद्धता भी एक पक्ष है। मानव जीवन की सामाजिकता एवं वैयक्तिकता का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि इतिहास में-उसके विकास में अन्य पक्षों के यथा-कला, विज्ञान, भाषा, तर्क, बुद्धि, भावना, संकल्प आदि की ही भांति धर्म की भी महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली भूमिका है। यद्धपि धर्म मानव जीवन के प्रारंभ से ही-प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसके साथ माना गया है तथापि परवर्ती चिंतन के विकास ने इसके स्वरूपादि के संबंध में कई अवधारणाएं प्रस्तुत की हैं। अतः धर्म के संदर्भ में प्रस्तुत किये जाने वाले किसी भी प्रकार के शोध अथवा तुलनात्मक अध्ययन से पूर्व धर्म के अर्थ एवं स्वरूप को जानना आवश्यक हो जाता है।

शब्दकोष के अनुसार धर्म शब्द की उत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है और 'धृ' का अर्थ है 'धारण करना'। ऋग्वेद में 'अतो धर्माणि धारयन्' के रूप में धर्म के धारण करने का उल्लेख मिलता है।[1] महाभारत में 'धारणात् धर्म मित्याहुः धर्मोधारयते प्रजाः'[2] के द्वारा एवं भगवद्गीता में 'धृत्याययया धारयते'[3] के द्वारा धारण का अर्थभाव स्पष्ट होता है। 'धारण करना' को सरल शब्दों में अपनाना भी कहा जा सकता है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या धारण करना या अपनाना धर्म है? इस संबंध में अत्यधिक अस्पष्टताएं हैं तथा विचारकों में मत वैभिन्य हैं।

ऋग्वेद में 'त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्'।।[4] के द्वारा व्यापक अर्थ में कहा गया है कि परमात्मा ने आकाश में त्रिपाद परिमित स्थान में त्रिलोक का निर्माण कर उनमें धर्मों का धारण किया है। धृव्रतो[5] अर्थात् सत्यव्रत का धारण करने वाले, अधि धाः[6] अर्थात् अच्छी तरह धारण कर, धर्मणामिरज्यासि[7] अर्थात् धर्मों के योग से अतिशय, ऐश्वर्य आदि को धारण करने का निर्देश मिलता है।

---

1. ऋग., 1/22/18
2. महाभा., कर्णपर्व, 49/50
3. गीता, 18/33
4. ऋग., 1/22/18
5. वही, 1/9/44/4
6. वही, 1/10/54/11
7 वही, 1/10/55/3

अथर्ववेद में सत्य, दीक्षा, तप, ब्रह्म, यज्ञ आदि को धर्म तत्व मानते हुए पृथ्वी को धारण[8] करने की बात कही गयी है। महाभारत में वह वस्तु जो संपूर्ण विश्व को धारण कर रही है एवं समाज (प्रजा) की एकता को मूर्तिमंत करती है[9] उसे ही धर्म कहा गया है।

धर्म के रूप में तत्वज्ञान[10], विधि-निषेध[11], सत्य[12], पुण्य[13], सांसारिक जीवन में अभ्युदय एवं जीवन के परम निःश्रेयस[14], चरित्र-आचरण[15] आदि को जीवन में धारण करना माना गया है जो निश्चित ही धारण के संबंध में विभिन्नताओं को दर्शाता है। अतः धर्म के धारण करने के संबंध में कोई एक पूर्ण निश्चित तथा सर्वमान्य विचार कर निर्णय कर पाना लगभग दुष्कर है किंतु इतना निश्चित है कि धर्म का अर्थ निःसंदेह धारण करना ही माना गया है।

1.2 'धर्म' एवं 'रिलिजन' :

पाश्चात्य चिंतन में धर्म के स्थान पर 'रिलिजन' शब्द का प्रयोग मिलता है अतः 'रिलिजन' शब्द के अर्थ को समझना आवश्यक है। कई विद्वान 'रिलिजन' शब्द का प्रयोग एवं 'धर्म' शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में करते हैं। वे इन्हें पूर्णतः एक ही मान लेते हैं और 'रिलिजन' की ही भाँति 'धर्म' को व्याख्यायित करने का प्रयत्न करते हैं। इसका प्रमुख कारण दोनों में कुछ समरूपताओं का पाया जाना है, जैसे- पवित्रता, संयमपूर्ण जीवन, नैतिकता, विश्वास, ईश्वर की या परमसत्ता की मान्यता, प्रार्थना, उपासना, स्वर्ग-नरक आदि। किंतु इससे यह नहीं माना जा सकता कि 'धर्म' व 'रिलिजन' एक ही है या दोनों का प्रयोग अपने समग्र अर्थ में एक दूसरे के स्थान पर किया जा सकता है।

धर्म के लौकिक प्रयोग[16] को वर्णित करते हुए 'धर्म' व 'रिलिजन' के अर्थभेद को स्पष्ट किया गया है। इसमें ऋग्वेद के अनुसार धर्म को जगत के निर्वाहक नियमों के समूह के रूप में स्वीकार किया गया है। 'धर्म' शब्द संस्कृत भाषा का शब्द है जबकि लैटिन-अंग्रेजी भाषा के 'रिलिजन' शब्द से विभिन्न

---

8. 'सत्यं बृहदतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथ्वीं धारयंति।' - अथर्व., 12/1/1
9. महाभा. कर्ण पर्व, 58-69
10. कठ. उप., 1/22/13
11. तैत्ति. उप., 2/11/1
12. बृह. उप., 1/4/14
13. छांदो. उप., 2/1/14
14. वैशे. सू., 1/1/1-3
15. मनु., 2/108
16. हिन्दी विश्वकोषः, एकादश भाग, नगेंद्रनाथ वसु, पृष्ठ 107-108

जातियों की विभिन्न ईश्वरोपासना प्रणाली का बोध होता है। संस्कृत में ईश्वरोपासना प्रणाली को महत्ता दी गयी है किंतु वह 'आचार' शब्द के अंतर्गत है।[17] धर्म शब्द से आचार का बोध कराते हुए क्रमशः उसका अर्थ संकुचित कर आचार के विभिन्नांशों के लिये उसका प्रयोग किया जाने लगा और ऐसी स्थिति में 'रिलिजन' शब्द का अर्थ 'धर्म' में प्रविष्ट हो गया तथा धर्म को 'रिलिजन' शब्द के स्थान पर 'रिलिजन' को 'धर्म' शब्द के स्थान पर प्रयुक्त किया जाने लगा।[18] मैक्समूलर के अनुसार 'धर्म' और 'रिलिजन' दो पृथक भाषाओं के शब्द हैं अतः धर्म को ग्रीक या लैटिन में अनुवादित नहीं किया जा सकता है और न ही लैटिन के 'रिलिजन' में ही धर्म का संपूर्ण अर्थ सन्निहित है।[19]

'धर्म' एवं 'रिलिजन' में एक अन्य प्रमुख भेद व्यापकता का भी पाया जाता है। 'धर्म' में ईश्वर को मानने वाले और ईश्वर को न मानने वाले–दोनों को धर्म में समावेशित किया गया है। वैदिक धर्म (हिन्दू धर्म) में ईश्वर की सत्ता[20] में विश्वास प्रकट किया गया किंतु जैन धर्म[21] एवं बौद्ध धर्म[22] में ईश्वर (सृष्टा) के अस्तित्व में विश्वास प्रकट नहीं किया गया है जबकि 'रिलिजन' के अर्थ के अंतर्गत दिव्य सत्ता (ईश्वर)[23], अलौकिक विश्वास[24],ईश्वर की अधीनता का आदर्श[25], ईश्वर का सृष्टित्व[26], उपवास[27], प्रायश्चित[28], विभिन्न उपासना पद्धतियाँ[29] आदि को विशेष रूप से स्वीकार किया गया है। अनीश्वरवादी (ईश्वर को नहीं मानने वाला) धर्म हो सकता है–इसे प्रायः पाश्चात्य चिंतन परंपरा में स्थान दिये जाने का उल्लेख नहीं मिलता है। दैवीय सत्ता की प्रकाशना (जिसके द्वारा ईश्वर स्वयं मनुष्यों को अपने विषय में जानकारी देता है), चमत्कार आदि का बोध रिलिजन माना गया है।[30] धर्म में भी आचार-विचार के दृष्टिकोण से इन समस्त भावों का आभास पाया जाता है किंतु विभिन्न ग्रंथों में धर्म के उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि 'धर्म' का अर्थ व स्वरूप 'रिलिजन' के अर्थ एवं स्वरूप की अपेक्षा अधिक व्यापक है[31]

---

17. वही, पृ. 108.
18. वही, पृ. 108
19. Maxmullar, Origin and Growth of Religion, हि. अनु - ब्रह्मदीक्षित धर्म की उत्पत्ति और विकास, P. 13-14
20. ऋग., 1/31/10; 1/31/14; 1/31/16; 1/54/2; 1/89/10; 4/17/17; 5/4/2; 5/43/2; 6/1/5; 1/64/20; अथर्व., 13/3/15; 13/4/16-20; 10/8/23; भग. गीता, 11/5-8; 11/15-31; 12/1-12; 12/19-27
21. षड्दर्शन समुच्चय, जैन दर्शन पर गुणरत्न की टिप्पणी, पृ. 115-124।; स्याद मं., श्लोक 6, हि. अनु. डॉ. जगदीश चंद्र जैनेन, पृ. 29-43
22. अभिधर्मकोश, 4/1
23. Hick, John, Philosophy of Religion, Introduction, P. 2-3
24. Gillin, J.H. and Gillin, J.P., Cultural Sociology, P. 459
25. Encyclopaedia of Religion and Ethics, Part X, P, 812-820

26-29 हिन्दी विश्वकोषः, एकादश भाग, पृष्ठ 108

30. Hick, John, Philosophy of Religion, III Edi., P. 60-62; Lewis, H.D., The Philosophy of Religion p. 227; The Catholic Encylopaedia, XIII, 1
31. हिन्दी विश्वकोषः, एकादश भाग, पृष्ठ 108

क्योंकि धर्म के रूप में तत्कालीन मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप के अनुसार धार्मिक विधि-विधानों, सामाजिक एवं नैतिक नियमों, रीति-रिवाजों, ईश्वर, आत्मा, सृष्टि आदि से संबंधित अवधारणाओं को वर्णित किया गया है। धर्म शब्द का प्रयोग मूर्त्तामूर्त्त, आत्मवाद व अनात्मवाद, ईश्वरवाद व अनीश्वरवाद, आचार, शास्त्र-आज्ञा, कर्तव्यपालन, श्रेय व प्रेय की सिद्धि, स्वभाव आदि सभी के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'रिलिजन' शब्द का प्रयोग कहीं पर भी अनात्मवाद या अनीश्वरवाद के लिये किया गया हो ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। कारण यह है कि रिलिजन का अर्थ ही मनुष्य को ईश्वर से संबंधित करना अथवा बांधना है।[32] अतः यह स्पष्ट होता है कि 'धर्म' शब्द का अर्थ व प्रयोग निःसंदेह व्यापक और विस्तृत अर्थ में हुआ है जबकि 'रिलिजन' शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत कम व्यापक अर्थ में किया गया है। 'रिलिजन' में कुछ अर्थ सानिध्य भी दृष्टिगत होता है इसलिये विद्वत्गण 'धर्म' व 'रिलिजन' को एक ही मान लेते हैं। 'धर्म' के समान 'रिलिजन' के अतिरिक्त अन्य कोई शब्द उपलब्ध नहीं है। अतः आगे के विवेचन में हम भी इसे पर्याय के रूप में मानते हुए ही चर्चा करेंगे।

1.3 धर्म की परिभाषा

धर्म अथवा रिलिजन की कोई निश्चित एवं सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन है क्योंकि धर्म अथवा रिलिजन शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता रहा है। जे.बी. प्राट इस कठिनाई का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि यह बड़ा ही बेतुका तथ्य प्रतीत होता है कि धर्म नाम का लोक प्रचलित शब्द जो मनुष्य जाति के होठों से बार-बार निःसृत होता है और जिससे मानव जीवन के सबसे प्रत्यक्ष व्यापार का बोध होता है फिर भी यह इतन जटिल है कि इसे परिभाषित करना अत्यंत दुष्कर है।[33] धर्म की वही परिभाषा सर्वमान्य हो सकती है जो सभी धर्मों पर लागू हो सकती हो तथा जिसमें ज्ञान, भावना और कर्म-तीनों का समावेश हो।

भारतीय चिंतन में धर्म को अनेक रूपों में परिभाषित किया गया है। जैसे-वेद में सत्य, ऋतु, व्रत, यज्ञ आदि को विभिन्न प्रकार से धर्म ही कहा गया है।[34] तैत्तिरीय उपनिषद एवं छान्दोग्य उपनिषद् में

---

32. Fuchs, Stephen, The Origin of Man and His Culture, P-218
33. 'It is a rather odd fact that a word so repeatedly on the lips of men and connoting apparently one of the most obvious phenomena of human life should be so notoriously difficult of definition as is the word Religion.'-Pratt. J.B. The Religious consciousness, P. 1
34. 'धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया धृतेन विश्वं भुवनं विराजथः सूर्यमा धत्थो दिवि चित्रयं स्थम्। 5/63/7; 'त्रमृतं सत्यं राष्ट्रं क्षमो धर्म 2 च कर्मच' — अथर्व.; 11/7/17; 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'-ऋग. 1/64/43/10/27/16, ऋग 10/190/1, 1/22/18, 1/44/14, 1/54/11, 1/55/3, अथर्व 2/1/5; यजु 32/12

नैतिक आदर्श या सदाचार को धर्म कहा गया है।[35] बृहदारण्यक उपनिषद् में धर्म शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक, नैतिक एवं भौतिक जगत (वस्तुओं) के संचालन के अर्थ में किया गया है। धर्म के संबंध में कहा गया है कि 'यह धर्म सब भूतों का मधु है, और सब वस्तुएं इस धर्म की मधु है और जो इस धर्म में प्रकाशमय, अमृतमय पुरुष है, वह आत्मा ही है, यह अनश्वर-अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्वमय है।'[36] बृहदारण्यक उपनिषद् में धर्म को सत्य व सत्य को धर्म के रूप में विवेचित करते हुए सत्य बोलने वाले के लिये कहा गया है कि यह धर्म कह रहा है तथा धर्म की बात कहने वाले के प्रति कहा गया है कि वह सत्य कह रहा है।[37] सत्य को धर्म के रूप में मानते हुए ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि ऋषियों ने सत्य को धर्म के रूप में ही देखा है-'सत्यं धर्माय दृष्टये।'[38] सत्य ही धर्म की सच्ची प्रतिष्ठा है-धर्म प्रतिष्ठितः।[39] इसलिये सत्य से बढ़कर दूसरा धर्म नहीं माना गया है–'सत्यान्नास्ति परोधर्मः।'[40] सत्य से बढ़कर कोई धर्म, नीति, तप व बल नहीं माना गया है। सत्य पर सभी को अधिष्ठित[41] मानते हुए यही कहा गया है कि यह संसार धर्म पर प्रतिष्ठित है – धर्मों विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।[42] इस प्रकार सत्य को धर्म के रूप में एवं धर्म को सत्य के रूप में अभिन्न माना गया है।

जैमिनी कृत मीमांसा सूत्र धर्म जिज्ञासा के संदर्भ में-श्रुति विहित कर्म (वेदों की आज्ञा का पालन) करना ही धर्म मानता है।[43] उसमें पुनः आगे कहा गया है कि धर्म का अर्थ श्रेयस्कर अर्थात् मंगलजनक होता है, जिससे अभ्युदय साधित होता है।[44] कणाद् के वैशेषिक सूत्र के अनुसार 'धर्म वह पदार्थ है जिससे सांसारिक जीवन में अभ्युदय और जीवन के परम लक्ष्य निःश्रेयस-दोनों की सिद्धि होती है।[45] तथा इस संबंध में वेद की प्रामाणिकता[46] को भी स्वीकार किया गया है।

---

35. सत्यंवद/धर्मंचर। तैत्तिरी. उप., 1/11/1-छांदों; उप., 2/23/1; 7/2/1
36. 'अयंधर्मः सर्वेषा भूतानां मध्वस्य धर्मस्यसर्वाणि भूतानानि मधु यश्चायमस्मिन् धर्मतेजोमयोऽमृतमयः पुरूषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मदं सर्वम्।।' - बृह उप., 2/5/11
37. 'शमाशं सते धर्मेण यथा राज्ञेवं यो वैस धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात्सत्यं वदंताभाहुर्धर्म वदतीति धर्म वा वदंत् सत्यं वदतीत्येतद्धयेवै तदुभयं भवति।' -बृह उप., 1/4/14
38. ईशा, उप,, 15
39. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्या कांड, 14/7
40. महाभा., आदिपर्व, अध्याय 162
41, महाभा. शांतिपर्व, अध्याय 162
42, तैत्तिरीय आरण्यक (कृष्ण यजुर्वेद), 10/63
43. मीमांसा सूत्र, 1/1/2
44. वही, 1/1/2; अथातो धर्म व्याख्यास्यामः। -वैशे. सू., 1/1/1
45. यतोऽभ्युदयानिःश्रेयस संसिद्धि सः धर्मः। - वही, 1/1/2
46. तद्वचनादाम्नायस्य प्रमाण्यम्।-वही, 1/1/3

महाभारत में धर्म के लिये कहा गया है कि वह वस्तु जो संपूर्ण विश्व को धारण कर रही है या करती है : अर्थात् जो समस्त वस्तुओं का मूल आधार है एवं समाज की एकता को मूर्तिमंत करती है वही धर्म है।[47] इसमें सत्य को सनातन मानते हुए सर्वाधिक महत्व दिया गया है।[48]

मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षणों का वर्णन व्यवहार्य आचरण के अर्थ में किया गया है यथा-धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इंद्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध।[49] यह राग द्वेष रहित आचरण को धर्म मानती है।[50] धर्मवान जीता है, धर्महंता आत्महंता है[51], अधर्म अल्पकाल के लिए भले ही वद्धर्मान प्रतीत होता हो, किंतु अंत में उसका विनाश सुनिश्चित है।[52] यह भी वेद की प्रामाणिकता को महत्व देता है। जो वेदबोधित है उसे धर्म माना गया है और कहा गया है कि धर्म विषयक जो उपदेश वेदशास्त्र की विधि से हैं युक्तिपूर्ण हैं तथा उनका वेदशास्त्र के अविरोधी तर्क द्वारा जो अनुसंधान करते हैं वे ही धर्म को जानते हैं। मनुस्मृति के अनुसार वेदविरुधता अधर्म है।[53]

गीता में धर्म को कर्त्तव्याकर्त्तव्य की व्यवस्था के रूप में माना गया है।[54] उसमें राग द्वेष को जीत कर स्वधर्म का आचरण[55], शास्त्रविधि से नियत कर्म करना[56] यज्ञादि कर्म करना[57] अनासक्त भाव

---

47. धारणाद् धर्ममित्याहुः। धर्मेण विधृता प्रजाः। यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।-महाभा, कर्ण पर्व, 49/50; शान्तिपर्व, 109/11

48. 'आहुः सत्यं परमंधर्म।' –महाभा. आदिपर्व, अध्याय 162
'नास्ति सत्यात् परो धर्मो ... ।' –वही, शांतिपर्व, अध्याय 162/24
'सत्यं ब्रह्म सनातनम्।' –वही, अध्याय 162/5

49. धृति क्षमा दमऽस्तेयं शौचमिंद्रियनिग्रहः।
धी विद्या सत्यमक्रोधो दशकंधर्मलक्षणन्।।-मनु. 7/92

50. वही, 2/1; एवं 2/108

51. 'धर्म एव हतो हंति धर्मो रक्षति रक्षितः।'-वही, 4/174

52. 'अधर्म शौधते तावत् ततो भद्राणि पश्यंति।
तत पतनाञ्जयति समूलवस्तु विनश्यति।' -वही, 4/174

53. वही, 12/106

54 गीता, 16/24

55. वही, 3/35; 18/47

56. वही, 3/8; 16/23-24; 17/24

57. वही, 3/9-16

से निरंतर कर्त्तव्य कर्म का अच्छी तरह आचरण (पालन) करना[58], निष्काम कर्म[59], स्वधर्म[60] तथा समत्व बुद्धियोग (पुण्य-पाप दोनों का त्याग कर धर्म व अधर्म का निष्पक्ष बोध)[61] से कर्त्तव्य पालन करना-कर्म बंधन से मुक्त होने का उपाय ही धर्म माना गया है। भागवत पुराण में विद्या, दान, तप और सत्य को धर्म के चार पद माने गये है।[62] पुराणों में नैतिक गुणों को संस्कारों से अधिक महत्वपूर्ण माना गया है तथा कुछ स्थलों पर तो इन्हें ही (नैतिक गुणों को) धर्म का मूल कहा गया है।[63]

जैन धर्म में धर्म को धम्मं[64] शब्द से निरूपित करते हुए उसके स्वरूप को विभिन्न प्रकार से वर्णित किया गया है।[65] जिनोक्त धर्म का आचरण (मोक्षमार्ग-संयम का अनुगामी सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र व सम्यक् दर्शन (त्रिरत्न), ममत्वरहित एवं निरंहकार होकर आचरण करना) करना[66], महावीर की आज्ञा का पालन करना ही धर्म माना गया है।[67] स्थानांग सूत्र मे ग्रामधर्म, नगरधर्म, संघधर्म आदि के संदर्भ में धर्म को सामाजिक विधि-विधानों के रूप में भी माना गया है।[68] जैन धर्म में धर्म को शुभ कर्म, कर्त्तव्य, कुशल अनुष्ठान, सुकृत, पुण्य, सदाचार, स्वभाव, गुण, पर्याय, धर्मास्तिकाय, द्रव्य, मर्यादा, रीति-व्यवहार आदि से संबद्ध माना गया है।[69] उसमें धर्म के कई प्रकारों यथा-नाम धर्म, स्थापना धर्म, साधु धर्म, श्रमण धर्म आदि का उल्लेख भी मिलता है।[70] किंतु धर्म का सार लक्षण-चरित्र[71], विश्वकल्याण[72], ज्ञान, संयम, निर्वाण आदि को माना गया है।[73]

---

58. वही, 3/19-20; 17/24
59. वही, 2/39-40
60. वही, 3/7-8
61. वही 2/50-53
62. विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानिच। - भागवत पु., 3/12/41
63. ब्रह्माण्ड पु., पूर्वभाग, 2/30/33-38; भागवत पु., 7/11/5-12
64. सूत्रकृ सू., सूत्रांक 115, 116, 245, 437, 460, 481 एवं 488
65. वही, सूत्रांक 437-472
66. वही, सूत्रांक 442
67. आचा. सू., 1/6/2/181
68. स्था. सू., 1/10/1/760
69. पाइअ सद्ममण्वो, पृष्ठ 485, उदघृत-सूत्रकृ. सू., मधुकर मुनि, पृ. 357
70. सूत्रकृ. सू. निर्युक्ति गाथा, 99-101, शीलांक वृत्ति पत्रांक, 175-176
71. प्रव. सार, 1/7
72. दशवै., 1/1
73. आचा. सू., निर्युक्ति गाथा, 244

बौद्ध धर्म में 'धम्म' या धर्म्म (धर्म) के कई अर्थ और व्याख्यान मिलते हैं। टीकाकार बुद्धघोष तथा प्राचीन शास्त्र परंपरा के अनुसार 'वेदना', 'संज्ञा', और 'संस्कार' इन तीनों स्कंधों को ही 'धम्म' कहा गया है, जो विज्ञान या मन के परिणाम है।[74] यमकवग्गो में धर्म के लिये कहा गया है कि जो मनुष्य राग, द्वेष और मोह का परित्याग कर प्रज्ञायुक्त चिंताविहिन चित्त से शास्त्रों का भाषण करता हुआ धर्म का आचरण करता है वह सद्गति को प्राप्त होता है (श्रमण बनने का भागीदार होता है)।[75] अवैर (अशत्रुता)[76], इंद्रिय संयम[77], शीलयुक्त आचरण[78], को श्रेष्ठ माना गया है और उसे ही धर्म कहा गया है, धर्म से मानव चित्त शुद्ध एवं निर्मल होता है।[79]

पौर्वात्य धर्मग्रंथों में धर्म को अनेक रूपों में परिभाषित किया गया है अतः किसी एक सर्वस्वीकृत परिभाषा का निर्धारण करना कठिन है किंतु सर्वमान्य परिभाषाओं के निर्धारण के लिये कुछ मानदंडों का निर्धारण करना आवश्यक है।

सामान्यतः मानव मन तीन प्रकार की वृत्तियों से युक्त होता है। प्रथम ज्ञानात्मक, द्वितीय भावनात्मक और तृतीय क्रियात्मक। जे.एस. ल्यूबा मन की उन वृत्तियों की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं कि चेतन जीवन की ईकाई न विचार है, न भाव, न इच्छा, अपितु किसी वस्तु के प्रति तीनों की संश्लिष्ट गति है।'[80] ज्ञानात्मक वृत्ति वह होती है जो मानव को किसी सत्ता (शक्ति) या विचार के प्रति चिंतनशील बनाती है। पूर्ण ज्ञानात्मक वृत्ति में संश्लेषण और विश्लेषण दोनों विधियाँ समावेशित होती हैं। उसके अंतर्गत एकता और विविधता दोनों का स्पष्ट ज्ञान होता है। भावनात्मक वृत्ति उसमें विश्वास, प्रेम, आत्मसमर्पण के भाव उत्पन्न करती है। क्रियात्मक वृत्ति वह होती है जो मानव को उस सत्ता या विचार के प्रति क्रियाशील बनाती है।

---

74. धम्मपद, हिं अनु. - कच्छेंदी लाल गुप्त, टिप्पणी पृ. 1-2; अंग्रेजी व्याख्या-राधाकृष्णन्, VII Imp. 1982, P. 58
75. धम्मपद 1/20
76. वही 1/5
77. वही, 1/10
78. वही, 13/168; 13/169
79. वही, 6/87
80. 'The unit of conscious life is neither thought, nor feeling, nor will but all the three in the movement towards an object.'-Leuba, J.H., The Psychological-origin and the Nature of Religion, P. 8 तुलना - 'पर्याप्त ज्ञान, श्रद्धा (भाव) और कर्म इन तीनों का समन्वय ही चित् शक्ति का पर्याप्त विकास है जो व्यक्ति को आनंदी बनाता है।' -सत्यभक्त, सत्यदर्शन, पृ. 9 (15)

धर्म में पूर्णता से संबंधित ज्ञान तथा वैयक्तिकता और सार्वभौमिकता से संबंधित जिज्ञासाएं मानव की ज्ञानात्मक वृत्ति को अभिव्यक्त (स्पष्ट) करती है। निर्भरता, श्रद्धा, विश्वास और स्नेह भावात्मक पक्ष को अभिव्यक्त करते हैं। सेवा, व्यवहार (आचरण), पवित्रता और उपासना आदि उसके (मानव के) क्रियात्मक पक्ष को अभिव्यक्त करते हैं। अतः मानव मन की इन तीनों वृत्तियों को ध्यान में रखते हुए धर्म की ऐसी सर्वमान्य परिभाषा का निर्धारण करना होगा जो ज्ञान, भाव एवं क्रिया – इन तीनों पक्षों को अपने में उचित रूप में समावेशित करती हो।

भारतीय पारंपरिक धर्मग्रंथों में दी गयी विभिन्न परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में धर्म का विशेष महत्व है और संपूर्ण जीवन धर्मानुसार व्यतीत करने के लिये नियमों का निरूपण किया गया है। यद्धपि सभी परिभाषाएं पूर्ण स्पष्ट एवं सर्वमान्य परिभाषाएं नहीं मानी जा सकती किंतु हमारे मत में कुछ परिभाषाएं ऐसी हैं जो सर्वमान्य परिभाषा के निर्धारक मानदंड के निकट है।

महाभारत के अनुसार वह वस्तु जो संपूर्ण विश्व को धारण कर रही है एवं समाज की एकता को मूर्तिमंत करती है, वही धर्म है।[81] इस परिभाषा को एक मान्य परिभाषा कहा जा सकता है। यह परिभाषा किसी परिस्थिति विशेष, युग विशेष या सत्ता विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करती है। विश्व को धारण करने वाली सत्ता जो ईश्वर, प्रकृति, शक्ति, ऊर्जा या अन्य कोई भी हो सकती है–जो व्यक्ति व समाज के एकत्व को साकार करती हो और जिसे धारण किया जाता हो उसे धर्म मानती है। यह परिभाषा व्यक्ति द्वारा धर्म के पालन को महत्व देती है तथा उस पालन के द्वारा सामाजिक एकत्व की स्थापना को स्वीकार करते हुए व्यक्ति एवं समाज के अस्तित्व तथा श्रेयस को स्वीकृति प्रदान करती है। यह परिभाषा 'वह वस्तु जो विश्व को धारण कर रही है' के द्वारा ज्ञानात्मक स्वरूप को, संपूर्ण विश्व एवं समाज की एकता के द्वारा भावनात्मक स्वरूप को तथा धारण एवं मूर्तिमंत के द्वारा क्रियात्मक स्वरूप को समावेशित करती है। इसमें आचरण, कर्त्तव्य, ईश्वरवाद, अनीश्वरवाद, आत्मवाद, अनात्मवाद, भौतिकवाद, अध्यात्मवाद, विज्ञानवाद, मनोविज्ञानवाद के वे सभी सिद्धांत व व्यवहार मान्य हो जाते हैं जो मानव-कल्याण एवं समाज की सुखाभिवृद्धि के लिये ग्रहण करने योग्य अथवा अपनाने योग्य समझे जाते हैं। इसके मूल में व्यक्ति व समाज के समग्र कल्याण की भावना, उसका एकत्व, उसका अस्तित्व ही सर्वोपरि है। धर्म को मानवमात्र के पूर्ण एवं सर्वांगीण उत्कर्ष का साधन बताया गया है।[82] तथा कहा गया है कि सम्यक् धर्म वही है जो युग-सत्य के अनुकूल एवं उत्कर्षहारी हो, इसलिये महाभारत में धर्म का स्वरूप गत्यात्मक है।[83]

वैशेषिक दर्शन द्वारा दी गयी परिभाषा के अनुसार धर्म वह तत्व/पदार्थ है जिसमें सांसारिक

---

81. महाभा., कर्णपर्व, 59-69

82. महाभा., शांतिपर्व, 109 अध्याय

83. वही, शांतिपर्व, 36/11

जीवन में अभ्युदय और जीवन के परम लक्ष्य निःश्रेयस-दोनों की सिद्धि होती है।[84] यह परिभाषा भी किसी विशेष मत अथवा मानव जीवन के एकांगी पक्ष पर बल नहीं देती है अपितु जीवन के समस्त पक्षों के-प्रेय एवं श्रेय की प्राप्ति करना ही धर्म का लक्ष्य मानती है। यह भौतिक (सांसारिक व बौद्धिक) तथा मानसिक और आध्यात्मिक विकास को अपने में समन्वित करते हुए मानव व्यवहार का सिद्धि के रूप में निरूपण करती है।

समकालीन भारतीय चिंतकों ने भी धर्म की परिभाषाएं दी है। अतः उनमे से कुछ का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। उदाहरणार्थ-महात्मा गाँधी के अनुसार सच्ची नीति ही सच्चा धर्म है।[85] 'धर्म के बिना नीति का पालन नहीं किया जा सकता है, यानि नीति का आचरण धर्म के रूप में करना चाहिए।'[86] फ़र्ज (कर्त्तव्य)[87], दया[88], सेवा आदि का निःस्वार्थ आचरण ही नीति है। डॉ. भगवान दास के अनुसार 'धर्म शाब्दिक दृष्टि से वह है जो किसी वस्तु को धारण किये होता है, उसे वह जो कुछ बनाता है, उसे टूटने और किसी अन्य वस्तु में परिवर्तित होने से बचाता है, इसका प्रमुख कार्य, इसका विशिष्ट लक्षण, इसका अनिवार्य गुण, इसकी अनिवार्य प्रकृति, इसका धर्म है।'[89]

डा. स. राधाकृष्णन् के अनुसार 'जिन सिद्धांतों का हमें अपने दैनिक जीवन में और सामाजिक संबंधों में पालन करना है, वे उस वस्तु द्वारा नियत किये गये हैं जिसे धर्म कहा जाता है। यह सत्य का जीवन में मूर्त्त रूप है और हमारी प्रकृति को नये रूप में ढालने की शक्ति है।[90]

स्वामी सत्यभक्त[91] के अनुसार धर्म का कार्य जीवन शुद्धि के नियम या विधि विधान बनाना

---

84. वैशे. सू. 1/1/1-2
85. गाँधी मो.क. धर्मनीति, पृ. 28-31
86 वही, पृ. 30
87. वही, पृ. 15-21
88. वही, पृ. 40
89. Bhagwan Das, The Science of Social-organization, Vol. P. 49-50
90. राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली, धर्म और समाज, पृ. 120
91. स्वामी सत्यभक्त (पं. दरबारी लाल)-जन्म 10 नवंबर ईसवी शाहपुरा जिला सागर (मध्य प्रदेश)
    24 फर. 1919-स्याद्वाद विद्यालय बनारस में धर्माध्यापक
    1923-दिल्ली मे जाति पांति विरोधी, सामाजिक व धार्मिक आंदोलन
    1926-36 - बंबई में सामाजिक क्रांति, जैन जगत (पाक्षिक) तथा जैन प्रकाश (साप्ता.) के स्थायी लेखक व संपादक।
    1934-सत्यसमाज की स्थापना, 2 मई 1936 में वर्धा में जमना लाल बजाज के निमंत्रण पर वर्धा आगमन (महा. गाँधी से पूर्व वर्धा), सत्यार में सत्याश्रम की स्थापना।
    1951-52 - अफ्रीका यात्रा एवं सत्यसमाज की स्थापना।
    1967 - राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार किंतु बाद में स्थगित।
    साहित्य-सत्यामृत (धर्मशास्त्र) 1-3 भाग, सत्येश्वर गीता, नया संसार, नयी मानव भाषा, जैनधर्म मीमांसा-3 भाग, महावीर का अंतःस्थल, चतुर महावीर, बुद्ध हृदय, संतपंथ समीक्षा, धर्म समीक्षा, हिन्दू मुस्लिम मेल, निरतिवादी अर्थशास्त्र, विश्वशांति का अमोघ उपाय, ईसाई धर्म, बहाई धर्म, कार्ल मार्क्स, हिन्दू भाइयों से, मुस्लिम भाईयों से, सत्यदर्शन, दिव्य दर्शन आदि लगभग 150 रचनाएं।
    संगम-मासिक पत्रिका, सत्याश्रम, बोरगाँव-वर्धा (महाराष्ट्र)

है।[92] अतः मनुष्य के उस आचार-विचार को धर्म कहते हैं जिसके द्वारा मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण होता है, सुख बढ़ता है, एक व्यवस्था पैदा होती है।'[93] उनके अनुसार धर्म-भिन्न-भिन्न देशकाल में धर्म संस्थाओं के द्वारा स्पष्ट होता है व धर्म-संस्था का मुख्य आधार संस्कार होता है जिनके आधार पर धर्म के द्वारा नम्रता, कृतज्ञता, शांति, दयालुता, परोपकार आदि का पालन (आचरण) किया जाता है।[94] वस्तुतः धर्म एक ही है और वह मूल धर्म आत्मशुद्धि द्वारा धर्म के रूप में सत्य, अहिंसा, शील, त्याग, न्याय, सेवा आदि का पालन करना है।[95]

उपर्युक्त समकालीन भारतीय चिंतकों द्वारा दी गयी धर्म की परिभाषाओं में से महात्मा गांधी की परिभाषा पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि उनकी परिभाषा को सर्वमान्य परिभाषा नहीं माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि वे धर्म की परिभाषा 'सच्ची नीति ही धर्म है' और 'धर्म के बिना नीति का पालन नहीं किया जा सकता यानि नीति का आचरण धर्म के रूप में करना चाहिये' करते हैं। वे नीति-धर्म और धर्म-नीति को समानार्थक मानते हुए दोनों के अर्थ नैतिकता पर आश्रित धर्म[96] करते हैं। इससे धर्म और नैतिकता को समन्वित करते हुए एक मानने पर भी पारिभाषिक तौर पर प्रथम दृष्ट्या नीति को धर्म से पृथक मानते हुए नैतिकता की तुलना में धर्म को गौण महत्व देने की भ्रमात्मक अवधारणा स्पष्ट होती है। इसके अतिरिक्त यह परिभाषा धर्म के संबंध में स्वीकार किये गये तीनों पक्षों यथा-ज्ञानात्मक पक्ष, भावनात्मक पक्ष और क्रियात्मक पक्ष को एक साथ समग्र रूप से पूर्ण स्पष्ट शाब्दिक अभिव्यक्ति प्रदान नहीं करती है। जब वे यह लिखते हैं कि धर्म वह है जो आत्मा को शुद्ध करता है, जो फल की अकांक्षा नहीं रखता, जिसमें अटूट विश्वास है और जिसमें स्वार्थ का होना असंभव है वह धार्मिक है।..... इसका अर्थ यह हुआ कि धर्म बुद्धिगम्य नहीं हृदयगम्य है।[97] तो परिभाषा के इस स्पष्टीकरण से (बुद्धिगम्य नहीं हृदयगम्य है), विश्वास, आत्मा की शुद्धता (पवित्रता) आदि के द्वारा धर्म के भावनात्मक पक्ष का निर्देश एवं जिसमें स्वार्थ होना असंभव है, नीति के आचरणात्मक पक्ष/क्रियात्मक पक्ष का निर्देश तो होता है किंतु ज्ञानात्मक पक्ष का स्पष्ट रूप से निर्देश नहीं होता है।

---

92. सत्यभक्त, स्वामी, सत्यामृत – दृष्टिकांड, पृ. 148।

93. वही, पृ. 135

94. वही, पृ. 136

95. वही, धर्मसमभाव; पृ. 49; धर्म मीमांसा, पृ. 20-21

96. 'The Societies spreading ethical religion or religions ethics believe in religion through morality.' Gandhi, M.K. 'Ethical Religion' Narayan Shriman (Edi.), The selected works of Mahatma Gandhi, Vol. IV. P. 20

97. सुमन, सामनाथ, (संपा.) नीति-धर्मः दर्शनः, पृ. 28 उदृत-डॉ. दर्शन सिंह, गाँधीवाद को विनोबा की देन पृ. 317

यह बात पृथक है कि भिन्न-भिन्न वक्तव्यों व लेखन के माध्यम से इन तीनों पक्षों को 'नीति' के अंतर्गत माना गया है। विद्वानों ने प्रायः इनकी व्याख्या गांधी चिंतन की व्याख्या करते समय की है किंतु स्वयं महात्मा गांधी द्वारा दी गयी धर्म की शाब्दिक परिभाषा में पूर्णता से व सार्वभौमिकता से संबंधित सभी ज्ञानात्मक जिज्ञासाओं को स्थान नहीं दिया गया है। उनकी परिभाषा मात्र वैयक्तिक शुद्धि के रूप में धर्म को परिभाषित करती है या फिर नीति के रूप में। अतः शब्द परिभाषा की दृष्टि से उनकी परिभाषा पूर्ण निश्चित व स्पष्ट न होने के कारण सर्वमान्य नहीं हो सकती है।

डॉ. भगवानदास धर्म को अस्तित्व रक्षण करने वाले धारणात्मक तत्व के रूप में परिभाषित करते हुए उसे महाभारत द्वारा उल्लेख की गयी धर्म की परिभाषा के निकट अर्थ में ही स्वीकार करते हैं। अतः वह कोई सर्वथा नवीन परिभाषा प्रतीत नहीं होती है।

डॉ. राधाकृष्णन की परिभाषा व्यक्ति की वैयक्तिकता और सत्य के द्वारा ज्ञानात्मक पक्ष को, सामाजिक संबंध एवं उस वस्तु द्वारा नियत (निर्भरता), शक्ति के द्वारा भावनात्मक पक्ष को तथा पालन करना, जीवन में मूर्तरूप और हमारी प्रकृति को नये रूप में ढालने के द्वारा क्रियात्मक पक्ष को समावेशित करती है। इसके अतिरिक्त इस परिभाषा में ईश्वर को मानने या न मानने के-किसी भी एकांगी पक्ष का समर्थन नहीं किया गया है। अतः डॉ. राधाकृष्णन की धर्म के संबंध में दी गयी स्पष्ट परिभाषा कि-'जिन सिद्धांतों का हमें अपने दैनिक जीवन में और सामाजिक संबंधों में पालन करना है, वे उस वस्तु द्वारा नियत किये गये हैं जिसे धर्म कहा जाता है। यह सत्य का जीवनमें मूर्त रूप है और हमारी प्रकृति को नये रूप में ढालने की शक्ति है'-तुलनात्मक विश्लेषणात्मक दृष्टि से सर्वस्वीकार्य परिभाषा हो सकती है क्योंकि यह परिभाषा अपने में वैयक्तिक, सामाजिक, मूर्त, अमूर्त (शक्ति), तथा ज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं क्रियात्मक पक्ष को स्पष्टतः समन्वित करती है।

इन परिभाषाओं के अतिरिक्त स्वामी सत्यभक्त की परिभाषा पर विचार करना प्रासंगिक होगा। वे धर्म की परिभाषा स्पष्ट एवं सुग्राह्य शब्दों में धर्म के कार्य के रूप में जीवन शुद्धि के नियम या विधि-विधान को बनाने के अर्थ में करते हैं, जिससे मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण होता है, जो सुख बढ़ाता है तथा व्यवस्था स्थापित करता है। वे धर्म को समाज में बनाये रखने के लिये-धर्मसंस्था को एक व्यवस्थित मनोवैज्ञानिक प्रयत्न मानते हैं जो किसी आचार-विचार के लिये व्यक्ति के मन में निष्ठा पैदा करती है, किसी विशेष आचार-विचार को मन में स्थिर करती है और जिनके आधार पर नम्रता, कृतज्ञता, शांति, परोपकार आदि का पालन (आचरण) किया जाता है। धर्म का यह विवेचन व्यक्ति के वैयक्तिक एवं सामाजिक कल्याण को महत्वपूर्ण मानता है तथा व्यवस्था को स्वीकार करते हुए सुख अभिवृद्धि करने वाले, आनंद बढ़ाने वाले, कल्याण करने वाले आचार-विचार के पालन को धर्म का लक्ष्य मानकर-विशेष महत्व देता है।

सत्यभक्त द्वारा की गयी धर्म की व्याख्या के उपर्युक्त विवेच्य आधार–नम्रता, कृतज्ञता, शांति, परोपकार का पालन करना, आचरणात्मक या क्रियात्मक वृत्ति (पक्ष) को, मन में किसी आचार-विचार के

लिये निष्ठा (श्रद्धा) पैदा करना, उन्हें स्थिर करना, सुख बढ़ाना भावनात्मक वृत्ति को और ईश्वर, आत्मा, परलोक आदि धर्म के अनिवार्य अंग नहीं हैं, इनके अभाव में भी धर्म तथा धर्म संस्थाएं हो सकती हैं[98], विचार आदि ज्ञानात्मक वृत्ति को स्पष्टतः समावेशित करती है।

वे स्पष्ट करते हैं कि धर्म को पैदा करने व टिकाये रखने हेतु ईश्वर, परलोक, आत्मा आदि का सहारा लिया गया है किंतु ये धर्म के अनिवार्य अंग नहीं हैं। प्रारंभ में बौद्ध धर्म इसके बिना ही था। उनके अनुसार धर्म एवं धर्म संस्था किसी विशेष आचार-विचार के लिये संस्कार द्वारा मन में निष्ठा उत्पन्न करते हैं, उन्हें मन में स्थिर करते हैं साथ ही कल्पित या अकल्पित व्यक्ति या सत्ताओं के प्रति एक विशेष तरह का विनय रहता है।[99] इन विचारों से यह स्पष्ट होता है कि वे धर्म की परिभाषा ईश्वर की स्वीकृति या अस्वीकृति अथवा आत्मा या परलोक के आधार पर नहीं करते हैं वरन् मानव व समाज के कल्याण, व्यवस्था, आचार-विचार, मनोविज्ञान, विवेक आदि के आधार पर करते हैं। उनकी परिभाषा धर्म को व्यक्ति [वैयक्तिक (मनुष्य)] व समाजपरक [सार्वभौमिक (सामाजिक)] दोनों ही रूपों में स्वीकार करती है तथा भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की समृद्धियों को मानवोचित आधार के रूप में समन्वित करती है। अतः उनके द्वारा दी गयी धर्म की व्याख्या व परिभाषा सर्वमान्यता के अधिक निकट है।

पौर्वात्य भारतीय ग्रंथों में एवं समकालीन चिंतकों ने धर्म की परिभाषा अपने देश-काल में वैयक्तिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, नैतिक मापदंडों के आधार पर भिन्न भिन्न रूप से प्रस्तुत की है। पाश्चात्य ग्रंथों व चिंतकों द्वारा भी धर्म को व्याख्यायित एवं परिभाषित किया गया है।

यहूदी धर्मग्रंथ 'धर्मशास्त्र' (बाइबिल) के पुराना नियम (ओल्ड टेस्टामेंट) में धर्म न्याय करते हुए यहोवा (परमेश्वर) के मार्ग में अटल बने रहने का विधान है।[100] विश्राम के दिनों का पालन करना और यहोवा (परमेश्वर) के पवित्र स्थान का भय मानना[101], वाचा न तोड़ना व यहोवा की आज्ञा मानना[102] भी धर्म माना गया है तथा इनका उल्लंघन करना अधर्म[103] है। अन्याय से मुक्त कराना, भूखों को अपनी रोटी बांट देना, दीन-दुखियों को संतुष्ट करना धर्मशास्त्र के अनुसार धर्म है।[104] यहोवा की महिमा प्रकट करना भी धर्म माना गया है। यहोवा की महिमा को महत्व देते हुए[105] यहोवा द्वारा ही कहलाया गया है कि 'यह मैं ही हूँ जो धर्म से बोलता और पूरा उद्धार करने की शक्ति रखता हूँ।'[106]

---

98. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. / 35
99. वही, पृ. 135
100. Bible, Old Testament, Gen. 18/19
101.-102, Lev., 26/2; 26/14-16; 26/40-43
103. Ibid, 26/43; Is., 56/1-4,6
104 Is., 58/2-3; 6/10
105. Ibid, 60/21-22
106. Ibid 63/1

3—259 Min. of H.R.D./2005

ईसाई धर्म के नया नियम (न्यू टेंस्टामेंट) में ईश्वर (परमेश्वर) से अपनी संपूर्ण बुद्धि, मन, प्राण शक्ति से प्रेम रखना और अपने पड़ोसी से अपने समान प्रेम रखना ही परमेश्वर की सबसे बड़ी आज्ञा है।[107] नम्रता, दयावंत होना, दीन मन होना, शुद्ध मन होना धर्म के लक्ष्ण माने गये हैं और इनके समर्थकों को व अपनाने वालों को धन्य कहा गया है।[108] संदेह, अनिश्चय, अविश्वास पाप है, अधर्म है[109] तथा पवित्र आत्मा से जो मेल-मिलाप और एक दूसरे का सुधार होता है उसे ही धर्म कहा गया है, आनंद कहा गया है, यह परमेश्वर को प्रिय एवं मनुष्यों के ग्रहण करने योग्य है।[110]

कुरआन मज़ीद में कुरआन के ज्ञान को एवं उसके अनुसरण को धर्म माना गया है तथा इस्लाम धर्म अल्लाह (ईश्वर) की ओर से है[111] यह कहा गया है। इंसाफ (ईमान) का पालन करना, अल्लाह से डरना, नेक काम करना धर्म है तथा इनका पालन न करना दीन (धर्म) से इंकार करना है।[112] सूरे फातिहः में अल्लाह को सर्वोपरि एवं ज़जा (अंतिम न्यायी) माना गया है जो इस्लाम (शांति) की रूह है और इस्लाम ही धर्म है।[113]

यूनानी इतिहास में ऑर्फिक धर्म में (ऑर्फियस थेसियन के द्वारा चलाया धर्म) रहस्यवाद, जीवन संबंधी नियमों की संहिता के आधार पर शुद्धिकरण एवं प्रायश्चित के धार्मिक कृत्यों के विधान को एवं तपश्चर्या को धर्म माना गया है।[114] आत्मा की अमरता में आस्था, ईश्वर की उपासना, अदैवी तत्वों से दैवी सत्ता की मुक्ति को ऑर्फिक धर्म का लक्ष्य माना गया है।[115] ऑर्फिक सिद्धांतों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करना, पवित्र निर्धारित अनुष्ठान करना धर्म है।[116]

---

107. Mark 12/29-31

108. Matt., 5/3-10

109. Rom., 14/23

110. Rom., 14/17-19

111. कुर. मज़ीद, सूरा 3/2-9; 5/1-3

112. वही, सूरा 5/7-9

113. वही, सूरा 1/1-2, 4

114. Plato, Phaedrus, 69 c., उद्धृत-राधाकृष्णन्, प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ. 151

115. Herison, J.E., Prolegomena to the study of Greek Religion, P. 477, 670 उद्धृत-राधाकृष्णन्, प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ. 152

116. वही, पृ. 504, 549 उद्धृत राधाकृष्णन्, प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ. 153

ग्रीक दार्शनिक सुकरात (470-399 ई.पू.) बौद्धिक आत्मानुशासन का समर्थन करते हैं तथा धर्म को यूनानियों के कर्मकांडीय धर्म से भिन्न समझते हैं[117] क्योंकि धर्म सद्गुणों से संबंधित होता है[118] और ज्ञान सद्गुण है तथा सद्गुण ही ज्ञान है। अतः सुकरात के अनुसार ज्ञान ही धर्म है, परम शुभ है, निःश्रेयस है।[119] ज्ञान, धर्म का पूर्व प्रतिबंध है। धर्म ज्ञान के अस्तित्व के कारण है और ज्ञान धर्म की प्रमाणिकता का कारण है।[120] ज्ञान और धर्म तत्व के दो समानान्तर पहलू हैं।[121] ज्ञान शुभ कर्मों का सार है और शुभ कर्म (सद्गुण) धर्म होते हैं-ऐसा मानते हैं।[122] उनके अनुसार ज्ञान शिक्षणीय है अतः धर्म शिक्षणीय है और यह एकम् है। बुद्धिमत्ता, साहस, न्याय व मिताचार आदि धर्म के विभिन्न प्रकाशन है।[123]

संत ऑगस्टाइन (345-430 ई.) ईसाई धर्म परंपरा के अनुकूल ही सत्य के दर्शन और चिंतन को धर्म में सर्वोपरि मानते हुए पिता, पुत्र और पवित्रात्मा (त्रियेक परमेश्वर-त्रिनिटी) को धर्म से संबद्ध करते हैं।[124] उनके अनुसार इनकी प्रार्थना व अनुसरण करना धर्म है। जॉन स्कॉटस एरिजेना (810-877), अन्सेल्म (1033-1109) धर्म को ईसाई धर्म की मान्यताओं के अनुरूप ही स्वीकार करते हैं।[125] थॉमस एक्विनास (1225-1274 ई.) के अनुसार ईश-प्रेम और पड़ौसी प्रेम विषयक ये दो आदेश स्वभावगत (NATURAL LAW) धर्म के मौलिक और सर्वव्यापक आदेश हैं, ये मानव बुद्धि के लिये स्वयं सिद्ध ही हैं।[126]

यहूदी, ईसाई, इस्लाम के धर्मग्रंथों में एवं ऑर्फिक धर्म, संत ऑगस्टिन, एरिजेना, अन्सेल्म तथा थॉमस एक्विनास के विचारों में धर्म को अनिवार्यतः ईश्वर से संबद्ध कर नैतिक नियमों के आचरण का विधान माना गया है तथा केवल विश्वास को ही सर्वाधिक महत्व दिया गया है। ये सभी विचार अनीश्वरवादी धर्मों को धर्म के रूप में व्याख्यायित नहीं करते हैं तथा ये केवल भावनात्मक एवं क्रियात्मक वृत्ति को ही समावेशित करते हैं ज्ञानात्मक वृत्ति को नहीं। अतः इनकी धर्म परिभाषाएं सर्वस्वीकार्य नहीं मानी जा सकती है।

सुकरात की धर्म मान्यताएँ अपेक्षाकृत अधिक व्यापक हैं तथा पाश्चात्य पारंपरिक धर्म मान्यताओं से भिन्न हैं। उनके विचार भी अनीश्वरवादियों को भी मान्य हो सकते हैं किंतु वे धर्म को ज्ञान एवं सद्गुण

117.-118. राधाकृष्णन्, प्राच्य धर्म पाश्चात्य विचार, पृ. 160

119-121. श्रीवास्तव, जगदीश सहाय, ग्रीक एवं मध्ययुगीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास, सॉक्रेटीज, पृ. 113

122-123. वही, पृ. 114-115

124. (ST.) Augustien, on the Trinity, VIII 2

125. श्रीवास्तव, जगदीश सहाय, ग्रीक एवं मध्ययुगीन, दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास, पृ. 243-245

126. Aquinas, Thomas, Summa Theologica, P. 1-11, 100

(आचरण या क्रिया) के रूप में ही परिभाषित करते हैं जिससे ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक वृत्ति तो व्याख्यायित होती है किंतु भावनात्मक वृत्ति नहीं। यदि सद्‌गुणों में प्रेम, सौहार्द, विश्वास, मैत्री आदि भावनात्मक गुणों को भी वे समावेशित करते हैं तो उनकी परिभाषा पारंपरिक परिभाषाओं की तुलना में अधिक स्वीकार्य मानी जाएगी। परंतु इन सद्‌गुणों का उनके चिंतन में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। अतः इसे सर्व स्वीकार्य परिभाषा नहीं माना जा सकता है।

समकालीन पाश्चात्य दार्शनिकों एवं विचारकों ने धर्म से संबंधित कई परिभाषाएँ दी है। जॉन हिक ने उनमें कुछ परिभाषाओं को उद्‌धृत करते हुए इस प्रकार से प्रस्तुत किया है।[127]

संवृतिवादियों (phenomenolist) के अनुसार 'धर्म मानव द्‌वारा स्वीकृत अतिमानवीय शक्ति और विशेषतः वैयक्तिक ईश्वर या दैवीय सत्ता है जिसकी पूजा करने व आज्ञा मानने के लिये वह बाध्य है।'

विलियम जेम्स के अनुसार 'धर्म का अर्थ व्यक्ति का वह एकान्तिक भाव, क्रिया एवं अनुभव है, जो व्यक्ति और ईश्वर (दिव्य सत्ता) के संबंध के ज्ञान से विकसित होते हैं।'

दी. पारसन्स के अनुसार 'धर्म व्यक्तियों द्‌वारा समाज में विकसित विश्वासों, रिवाजों एवं संस्थाओं का समूह है'।

एम. सालोमन रिंच के अनुसार 'धर्म उन निषेधों का संग्रह है जो हमारी शक्तियों के स्वतंत्र कार्य (विकास) में बाधक है।'

मैथ्यू ऑर्नाल्ड के अनुसार 'संवेग सहित नैतिकता ही धर्म है।'

उनके अनुसार उपर्युक्त सभी परिभाषाएं नियम अथवा स्वनिर्मित (stipluative = to demand as part of an agreement) हैं, जबकि धर्म के यथार्थवादी स्वरूप को किसी एक ही निश्चित अर्थ में निरूपित नहीं किया जा सकता है।[128]

---

127. Religion is Human recognition of a superhuman controlling power and especially of personal God or Gods entitled to obedience and worship. Phenomenological defination 'The feelings, acts and experiences of individual men in their solitude, so far as they apprehend themselves to stand in relation to whatever they may consider the divine.' - William James 'A set of beliefs, practices and institution which men have evolved in various societies' -T. Parsons

    'Religion is a sum of scruples which impede the free exercise of our faculties' -M saloman Reinach.

    'Religion is morality touched with emotion' -Mathew Arnold.

    Quted-Hick, John, Philosophy of Religion, P. 2

128. Hick, John, Philosophy of Religion, P. 2

विट्गिंस्टाइन अनेकार्थकता के सिद्धांत के आधार पर धर्म को स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार- भिन्न भिन्न विशेषताओं से युक्त कई व्यक्ति एक ही परिवार के सदस्य होते हैं, वे अपनी वैयक्तिक पृथकता रखते हैं, किंतु फिर भी वे परिवार (व्यक्ति समूह) के सदस्य कहलाते हैं। वे मानते हैं कि-जिस प्रकार से 'खेल या गेम' में विभिन्न प्रकार के खेल समाहित होते हैं जैसे- वॉलीबॉल, फुटबॉल, टेनिस, बैडमिंटन आदि। ये सभी विविध खेल हैं और इनकी सार्थकता की परीक्षा इनमें से प्रत्येक के अपने नियमों के अनुसार होती हैं।[129] गेम शब्द का अर्थ कोई एक विशेष खेल नहीं है वैसे ही परिवार का अर्थ भी कोई एक विशेष सदस्य नहीं है। ठीक इसी प्रकार से 'रिलिजन' शब्द का भी कोई एक विशेष अर्थ निरूपित नहीं किया जा सकता है।[130] उनके अनुसार रिलिजन भी पारिवारिक अनुरूपता के समुच्चय (set) की तरह है। पारिवारिक अनुरूपता के अंतर्गत एक परिवार में कई भिन्न-भिन्न आचार-विचार, रहन-सहन, रुचि आदि के सदस्य होते हैं किंतु फिर भी वे एक ही परिवार के सदस्य कहे जाते हैं।[131] ठीक इसी प्रकार से रिलिजन शब्द में भी कई अर्थ व आचार-विचार अंतर्निहित होते हैं अतः उसका कोई एक अर्थ करके सीमित करना उचित नहीं है।

विट्गिंस्टाइन के अनुसार विविध प्रसंगों में शब्दों के उपयोग के अनुसार ही उनका अर्थ निर्धारित किया जा सकता है। किसी शब्द या कथन को ठीक-ठीक जानने हेतु उस विशेष संदर्भ में उसके उपयोग को समझना आवश्यक है, जिसमें वह प्रयुक्त किया गया है।[132] वे यह भी लिखते हैं कि जिस विषय में कोई कथन संभव नहीं है उस विषय के संबंध में मौन[133] रहना अनिवार्य है (क्योंकि शब्द द्वारा समझाया नहीं जा सकता)। वे धर्म का संबंध नितांत रहस्यमयी[134], अवर्णनीय सत्ता[135] से बताते हुए धर्म के संबंध में मौन रहना ही उचित समझते हैं। अपनी इस मान्यता के कारण धर्म के विषय में संशय करना व्यर्थ समझते हैं क्योंकि धर्म संबंधी प्रश्न एवं उत्तर दोनों ही अकथनीय है।[136] धर्म विश्वास पर आधारित होता है तथा यह धार्मिक विश्वास 'नियामक शक्ति' के रूप में मनुष्य को एक विशेष प्रकार के जीवन व्यतीत

---

129 Wittgenstein, L. Philosophical Investigation Sect. 23

130. Ibid 1, 66-67

131. Ibid, 1, 66-67

132. Ibid, Sect. 20.

133. Ibid, Tractatus Logico-Philosophicus, उद्धृत-समर बहादुर सिंह, 'विट्गिंस्टाइन का धर्म दर्शन', परामर्श, मार्च 1993, पृ. 122

134. Ibid, 6. 44, 6.53

135. Ibid, 6.44, 6.52

136. Ibid, 6.51

करने के लिये प्रेरित करके उसके संपूर्ण जीवन का मार्गदर्शन और नियमन करती है।[137] एक प्रकार से उनके विचारों के आधार पर धर्म को एक विशेष जीवन पद्धति माना जा सकता है।

जॉन हिक के अनुसार 'हम विट्गिंस्टाइन के विचारों को धर्म शब्द के अर्थ निरूपण के लिये भी प्रयुक्त कर सकते हैं क्योंकि उसकी कोई एक ऐसी विशेषता निर्धारित नहीं है जिसके आधार पर हम उसे एक ही धर्म के लिये प्रयुक्त करें या एक ही धर्म माने, वरन् अच्छा होगा कि हम उसे 'पारिवारिक अनुरूपता' के समुच्चय के समान माने।[138] उदाहरण स्वरूप 'धर्म में ईश्वर एवं दैवीय पूजा होती है, किंतु बौद्धों के थेरवाद में नहीं। 'धर्म सामाजिक लगाव, व्यक्ति के एकान्तिक भाव, व्यक्ति की वैयक्तिकता में आंतरिक समन्वय स्थापित करना है, इसके आधार पर धर्म एवं धर्म निरपेक्षता संबंधी विश्वासों का बोध भी होता है अतः उनके अनुसार जिस प्रकार से पारिवारिक समुच्चय होता है वैसे ही धर्म भी होता है।[139] अतः धर्म की प्रकृति लौकिक या रूढ़ विचारों के रूप में भी स्पष्ट होती है-ईसाई, हिन्दू, बौद्ध आदि के वस्तु तत्वों के रूप में भी।[140] इससे स्पष्ट है कि विट्गिंस्टाइन एवं जॉन हिक रिलिजन/धर्म की स्पष्ट परिभाषा केवल नैतिकता या आध्यात्मिक दैवीय सत्ता में विश्वास करना ही नहीं मानते हैं। वरन् वे धर्म को व्यापक अर्थ वाला मानते हैं।

एडवर्ड टॉयलर के अनुसार 'धर्म आध्यात्मिक सत्ताओं में विश्वास है।'[141]

सर जेम्स फ्रेज़र लिखते हैं कि 'धर्म (रिलिजन) से मैं मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियों की संतुष्टि या आराधना समझता हूँ जिनके संबंध में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव जीवन को मार्ग दिखलाती है और नियंत्रित करती हैं।[142]

मैक्समूलर के मतानुसार 'धर्म वह मानसिक शक्ति या प्रवृत्ति है जो मनुष्य को अनंत सत्ता का ज्ञान प्राप्त कराने में सक्षम सिद्ध होती है।[143] उनके अनुसार धर्म ऐसी मानसिक शक्ति है जो इंद्रियों और

---

137. Ibid, Lectures and conversations on Aesthestics, Psychology and Religious Belief, P. 53-54.

138. 'We may apply Wittgenstein's idea to the word' religion. Perhaps there is no one characteristic of everything that can be called a religion, but rather there is a set of 'family resemblance' -Hick, John, Philosophy of Religion, P. 3

139. -Ibid P. 3

140. 'The nature of religion I have been following the conventional views of religions as clearly demarcated entitles Christianity, Hinduism, Buddhism, and so on.' Ibid, P. 3

141. 'Religion is a belief in spritual beings.' -Taylor, Edward B., Primitive culture, P. 424

142. Frajer, Sir James, The golden Bough, P. 50

143. 'Religion is a mental faculty or disposition which enables man to apprehed the imfinite' -Maxmullar, origin and Growth of Religion, हि. अनु.-ब्रह्मदीक्षित, पृ. 14-15

विवेक से पूर्णतया स्वतंत्र है और इनके बिना भी उसका अस्तित्व है। यह (धर्म) प्रत्येक मनुष्य में स्थित वह विश्वास है जो उसे धार्मिक बनाता है।[144]

गिलिन और गिलिन धर्म के संबंध में लिखते हैं कि 'एक सामाजिक समूह में व्याप्त उन भावनात्मक विश्वासों को जो किसी अलौकिक शक्ति से संबंधित है तथा उन बाहरी प्रकट व्यवहारों, भौतिक वस्तुओं एवं प्रतीकों को जो इन विश्वासों से संबंध रखते हैं धर्म के सामाजिक क्षेत्र में सम्मिलित किया जा सकता है।[145]

जॉर्ज गैल्वे के अनुसार 'अपने से परे शक्ति में मनुष्य का यह विश्वास धर्म है जिसके द्वारा वह अपनी संवेगात्मक आवश्यकताओं की संतुष्टि और जीवन की स्थिरता प्राप्त करता है तथा जिसे वह उपासना एवं सेवा के माध्यम से प्रकट करता है।[146]

प्रो. फ्लिंट के अनुसार 'धर्म मनुष्य का अपने से अधिक समर्थ सत्ता या सत्ताओं, जो इंद्रिय अगोचर है परंतु उसकी भावनाओं और कार्यों के प्रति उदासीन नहीं है, में आस्था से उद्भूत भावनाएं एवं क्रियाएं है।'[147]

धर्म को सर्वोच्च मानते हुए ब्रेडले लिखते है कि ऊँचे शुभ स्तर पर पहुंची हुई नैतिकता धर्म में समाप्त होती है।[148]

हॉफडिंग मानते हैं कि 'मूल्यों के संरक्षण में विश्वास ही धर्म है।[149]

धर्म के संबंध में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गयी इन परिभाषाओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि पारसंस, मैक्समूलर, गिलिन और गिलिन, एडवर्ड टॉयलर, मैथ्यू ऑरनॉल्ड, हॉफडिंग

---

144. वही, पृ. 19-20

145. Gillin, J.H. & Gillin, J.P. Cultural Sociology. P. 459

146. 'Religion is man's faith in power beyond himself whereby he seeks to satisfy emotional needs and gain stability of life, and which he expresses is acts of worship and service.' Gallaway, Garge. The Philosophy of Religion, P. 181

147. 'Religion is man's belief in being or beings, mightier then himself and inaccessible to his senses but not indifferent to his sentimetns and actions, with the feelings and practices wich flow from such belief.' -Fling, R., Theism, (1877), P. 3

148. 'Morality is led beyond into a higher form of goodness, it ends in what we may call Religion.' Bradley, F.H., Appearance and Reality, P. 388

149. 'Religion is faith in the conservation of values.' -Hoffding, उद्धृत-सिन्हा, हरेंद्र प्रसाद, धर्म दर्शन की रूपरेखा, पृ. 55; शर्मा, रामनाथ, धर्मदर्शन, पृ. 3

आदि क्रमशः समाज द्वारा प्रदत्त विश्वासों, अलौकिक शक्ति से संबंधित भावनात्मक विश्वासों, आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास, संवेग सहित नैतिकता, व्यक्ति और ईश्वर (दिव्य) के ज्ञान से विकसित होने वाले एकांतिक भाव अथवा क्रिया अथवा अनुभव अथवा मूल्यों के संरक्षण के रूप में धर्म को परिभाषित करते हैं। इनकी परिभाषाओं में मनुष्य की किसी एक प्रवृत्ति को ही प्रमुखता दी गयी है अन्य को गौण मान लिया गया हैं। जैसे विश्वास शब्द से भावनात्मक वृत्ति का बोध होता है किंतु ज्ञानात्मक वृत्ति और क्रियात्मक वृत्ति के होने का स्पष्ट एवं निश्चयात्मक बोध नहीं होता है। दिव्य सत्ता में या ईश्वर में या आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास करने की भावना से धर्म की पूर्ण परिभाषा नहीं होती है। अर्थात् धर्म का एकमात्र आधार विश्वास अथवा ईश्वरीय सत्ता को मान लेना ज्ञान व कर्म की उपेक्षा करना है जिसे व्यावहारिक दृष्टिकोण से उचित नहीं माना जा सकता है। अतः वे सभी परिभाषाएं सर्वस्वीकार्य नहीं हो सकतीं हैं जो केवल विश्वास को ही या ईश्वर अथवा दिव्य सत्ता को ही धर्म मान लेती हैं या फिर किसी एकांगी वृत्ति के आधार पर धर्म को परिभाषित करती हैं। समकालीन पाश्चात्य चिंतकों में से गेल्वे द्वारा दी गयी धर्म की परिभाषा पर विचार करना उचित होगा।

गैल्वे द्वारा इस परिभाषा में अपने से परे शक्ति में विश्वास करना, उसके संबंध में चिंतन करना तथा जीवन की स्थिरता की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करना ज्ञानात्मक वृत्ति का, संवेगात्मक आवश्यकताओं की संतुष्टि भावनात्मक वृत्ति का तथा उपासना एवं सेवा जैसी क्रियाओं द्वारा क्रियात्मक वृत्ति का विवेचन किया गया है। गैल्वे द्वारा धर्म को अपने से परे शक्ति में विश्वास करने से संबद्ध करना असंगत नहीं माना जा सकता है क्योंकि जिस परे की शक्ति का उल्लेख वे करते हैं वह मानव से परे है और परे की शक्ति की भावना लगभग सभी धर्मों में पाई जाती हैं – चाहे वे ईश्वर को मानने वाले हों या न मानने वाले हों। जैसे पौर्वात्य जैन धर्म[150] एवं बौद्ध धर्म[151] ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते हैं, किंतु अपने से परे की शक्ति के रूप में देवता (दैवत्व)[152] एवं अवतार[153] के विचार को स्वीकार करते हैं। बुद्ध के अनुसार आत्मविकास ही सर्वोपरि है और वह अपने पर संयमपूर्ण विजय प्राप्त करने से ही संभव है।[154] यह केवल विवेक या दूरदर्शिता से ही प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि बुद्ध द्वारा इंद्र, वरूण आदि देवताओं की सत्ता को मानने का एवं जन्म-मरण के चक्र में वे भी आते हैं-का विवरण प्राप्त होता है किंतु संसार

---

150. स्यादवाद मंजरी, श्लोक 5 एवं उसकी टीका; षड्दर्शन समुच्चय, जैन दर्शन (गुणरत्न की टिप्पणी), पृ. 115-124

151. अभिधर्मकोश, 4/1; सौगातसिद्धांत सारसंग्रह, 4/23-38

152. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग 1, पृ. 267, 272

153, जातक कथाएं

154 धम्मपद, 8/104

की व्याख्या के लिये उन्हें कोई महत्व (स्थान) नहीं दिया गया है। देवता उनके अनुसार कोई निर्माणकारी दैवीय सत्ता नहीं है और न ही वे नैतिक कर्मविधान में किसी प्रकार का हस्तक्षेप ही कर सकते हैं।[155] संसार की विविधता कर्मों के कारण ही है और कर्मों से ही जन्म होता है।[156] अतः यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म ईश्वर को नहीं मानते किंतु पारलौकिक शक्ति के रूप में देवता, कर्मफल आदि का विचार तो उनमे पाया ही जाता है। इसलिये जॉर्ज गैल्वे के द्वारा दी गयी धर्म की परिभाषा न केवल ईश्वर को मानने वालों को ही अपितु ईश्वर को न मानने वालों को भी स्वीकार्य हो सकती है। इसलिये जॉर्ज गैल्वे की परिभाषा धर्म की सर्वस्वीकार्य परिभाषा हो सकती है।

इस समग्र विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि पौर्वात्य एवं पाश्चात्य चिंतन में विद्वानों ने धर्म की परिभाषा अपने देशकाल में वैयक्तिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, नैतिक मापदंडों के आधार पर भिन्न-भिन्न रूप से प्रस्तुत की हैं। निश्चित रूप से इनसे यह स्पष्ट है कि मानव जीवन निश्चित रूप से अस्तित्ववान है इसलिये उसे जीवन कल्याण के लिये सदैव सचेष्ट रहना चाहिए। मानव और मानवीयता का विचार सभ्य समाज में मानव मूल्यों का उत्थान करता हैं तथा पारस्परिक मानव-व्यवहार की पशु-व्यवहार से भिन्नता स्पष्ट करता है। मानवीयता का विचार सभ्य समाज में एक ओर संपूर्ण मानव जाति से है तो दूसरी ओर वह मूल्य गरिमा के रूप में है। अतः धर्म की वे सभी परिभाषाएं सर्वमान्य हो सकती हैं जो मानव के ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक पक्षों को अभिव्यक्त करती हों और जो पूर्वाग्रह रहित होकर वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण के अंतर्गत भौतिकता व आध्यात्मिकता (लोक मंगल) को समन्वयात्मक रूप से समावेशित करती हों। इस दृष्टि से उपलब्ध परिभाषाओं में से महाभारत, वैशेषिक दर्शन, डॉ राधाकृष्णन, स्वामी सत्यभक्त, जॉर्ज गैल्वे आदि की परिभाषाएं सर्वमान्य परिभाषाओं के रूप में कही जा सकती है।

धर्म का अर्थ, धर्म का रिलिजन से अंतर और धर्म की परिभाषा पर चिंतन करने के बाद सहज ही यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि धर्म की क्या आवश्यकता है? अतः अब हम अपने अगले बिंदु के रूप में धर्म की आवश्यकताओं पर विचार करेंगे।

1.4 धर्म की आवश्यकता

धर्म को मानव जीवन के विकास के लिये एक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण तत्व माना गया है। वहीं दूसरी ओर उसे मानव विकास में बाधक भी माना गया है।

---

155. (Mrs.) Davids, Rhys, The Dialogues of Buddha, 1, P. 280 and 302

156. अभि. कोश 4/1

सिगमंड फ्रॉयड धर्म को सर्वव्यापक मनोग्रस्तिज तंत्रिकाताप (Mass obssessional Neurosis)[157] मानते हैं जो व्यक्तियों के यथार्थबोध को लुप्त कर देता है (अर्थात जो यथार्थ का बोध होने पर लुप्त हो जाता है)। वे धार्मिक अनुभूति को भ्रांतिजन्य अनुभूति से संक्षिप्त करने हुए धर्म को सामान्य रूप से सामान्य मनस्तंत्रिकाताप (General Psychoneurosis of the human Race कहते हैं जो कि अन्तर्बाध्यता के कारण होता है।[158]

कॉर्ल मार्क्स धर्म के विरूद्ध आक्षेप करते हुए मानते हैं कि धर्म ने समाज में वर्गवाद का सृजन किया है। उनके अनुसार 'धर्म आत्माहीन परिस्थितियों की आत्मा है; वह हृदयहीन संसार का हृदय है और सामान्य जनता के लिये 'गरीबों की अफीम' है।'[159] उनके मतानुसार धर्म में विश्वास का कारण हमारी अज्ञानता है जो विज्ञान और तकनीकी शिक्षा के प्रसार से दूर हो जाएगी तो धर्म का स्वयं लोप हो जायेगा और एक आदर्श वर्गहीन समाज की रचना होगी।'[160] विज्ञान के द्वारा ही मानव प्रगति कर सकता है, सुसंस्कृत बन सकता है।[161]

विलियम जुरडीग आज के युग में धर्मानुसरण करना सांस्कृतिक पिछड़ेपन की निशानी मानते हैं।[162] हॉगवेन भी विज्ञान और धर्म में घोर वैषम्य मानते हैं।[163] अतः यह स्पष्ट होता है कि ये चिंतक धर्म व विज्ञान को परस्पर विरोधी मानते हुए मानव जीवन में धर्म को अनावश्यक मानते हैं तथा धर्म के उन्मूलन की बात कहते हैं। परंतु कई चिंतकों ने धर्म को मानव जीवन के लिये आवश्यक मानते हुये निम्न आधारों पर उसकी उपादेयता को स्वीकार किया है-

मानव में पूर्णता की भावना होती है। वह केवल बौद्धिक सीमाओं मे रह कर पूर्णत्व की उपलब्धि नहीं कर सकता है। अतः पूर्ण शुभत्व की प्राप्ति हेतु तथा विकासोन्मुख होने के लिये अपने जीवन का आधार सामान्यतः दैवीय संदेश (इलहाम) को बनाया गया है। धर्म में ईश्वर के द्वारा अवतरित होने का भाव, श्रेयस की भावना, नियामक सिद्धांत आदि विश्व की प्रयोजनात्मक प्रक्रिया, उसकी निश्चित दिशा

---

157. 'Religion is the mass obssesional neurosis of mankind and is bound to disappear with the knowledge of reality' -Freud, S., Civilization and its Discontents, P- 23; Moses and Monotheism. P. 91, 94 and 129
158. Ibid, Future of an Illusion, P. 76
159. 'Religion is the sob of the oppressed creatures, the heart of heartless world, the spirit of condition utterly unspiritual, it is the opium of the poor.' Marx, Karl, & Engel's F., On Religion P. 7-9: Marx, Karl, Sixth Thesis on Feurebach.
160. Marx, Karl & Engel's F., On Religion, P.7-9
161. Ibid, P. 7-9
162. Jurdeeg, William. An Analytical Philosophy of Religion, P. 7
163. Hagven, The Nature of Living matter, P. 263

व लक्ष्य आदि के आधार पर मानव में सार्वभौमिक सबंधों के द्वारा समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की जाती है। अतः धर्म के द्वारा व्यक्ति की अंतर्दृष्टि का विकास होता है यह अंतर्दृष्टि से प्रेरित उच्चतम चेतना का आदर्श होता है जो मनुष्य में सभी प्रकार के दिव्य विचारों को जन्म देता है तथा उनको अनुभवगम्य बनाने की चेष्टा करता है।[164] यह हमारे भीतर जीवन के प्रति सहज निष्ठा और मानवीय प्रकृति की एकता के प्रति विश्वास उत्पन्न कर आध्यात्मिक आधार पर समस्त जीवन में सामंजस्य व संतुलन स्थापित कर भयमुक्त (अभय) करता है।[165]

पूर्णत्व के लिये व्यक्ति की चाह, अभाव की भावना, अनन्तता की चेतना को जानने एवं प्राप्त करने की चेष्टा स्वाभाविक, दिव्य एवं शक्ति रूप हैं, चाहे वह एक विचार मात्र ही क्यों न हो। बुद्धिमान मनुष्य ने ही अमरत्व की इच्छा कर चक्षु आदि इंद्रियों को बाह्य विषयों की ओर से विमुख करके अतंरात्मा को देखा है।[166] आध्यात्मिक सत्य एवं दिव्य जीवन की दृष्टि से संबंधित व्यक्ति के विचारों के लिये धर्म को ही प्रमाण माना जा सकता है, उसके विषय में मात्र शाब्दिक तर्क-वितर्क को नहीं, क्योंकि मनुष्य इंद्रियों के द्वारा बाह्य वस्तुओं का ही प्रत्यक्ष करता है, अपनी अंतरात्मा का नहीं।[167] अंतरात्मा का यह अंतर्दर्शन वैचारिक स्तर पर मनुष्य के प्रत्येक पक्ष को अपने उच्चतम उत्कर्ष (पूर्णत्व की उपलब्धि व स्वतत्रंता) की ओर प्रेरित करता है और यही मानव जीवन की सार्थकता है। पूर्णता का यह अपरिमित आदर्श धर्म के अनुभव के द्वारा सदाचरण से अभिव्यक्त होता है। ज्ञान, प्रेम और कर्म के द्वारा व्यक्ति व समाज का विकास होकर अपरिमित (जो कि पूर्ण है) को प्रकट करता है, मानवता को प्रकट करता है।[168] यही अनंत आनंदपूर्ण अवस्था है जिसमें मैं (पृथक अहम्ता) की चिंता से विरत रहते हैं।[169]

धर्म में स्वीकृत आत्मदर्शन अथवा अंतरात्मा का बोध सत्य, स्वाध्याय एवं धर्माचरण[170] से होता है और धर्माचरण में सदाचार युक्त एवं एंद्रियिक कामना रहित (राग-द्वेष से परे) आचरण होता है।[171] यह आचरण व्यक्ति को पूर्ण शुभत्व की प्राप्ति के लिये प्रेरित करता है। अतः धर्म में आत्मशुद्धि तथा

---

164. राधाकृष्णन्, प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ. 36-38; विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य द्वि. खं. , पृ. 160-166, 175

165. राधाकृष्णन्, वही पृ. 61, 67

166-167 'पराञ्चिरवानि व्यतृणत् स्वयंभू-स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिदीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-दावृतचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।' कठ. उप., 2/1/1

168. Thakur, R.N., Religion of Man, P. 205, 225: Creative unity, P. 15

169. विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, द्वि. खं., 175, 177

170-171. 'सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।..... स्वाध्याय प्रवनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्'। तैत्ति उप., 1/11/1

आध्यात्मिक अनुभवों के आधार पर सर्वमान्य स्वीकृत, नैतिक सिद्धांतों के आधार पर भी धर्म की आवश्यकता को स्वीकार किया गया है।[172]

मानव जीवन के नैतिक विकास (चरित्र निर्माण) में धर्म प्रेरित शुभ[173] को महत्वपूर्ण माना गया है एवं इसे शिवम् अथवा शिव भी कहा गया है। शिव का शाब्दिक अर्थ शुभ, कल्याण, मंगल, श्रेयस्कर आदि हैं। नैतिक मूल्य (नैतिक सिद्धांत) चूंकि व्यक्ति व समाज के लिये श्रेयस्कर, शुभ, कल्याणकारक होते हैं अतः इन्हें जीवन के नैतिक आदर्श मानते हुए वेदांत सूत्र में नियमाच्च[174] के रूप में नियमित कर्तव्य स्वीकार करते हुए श्रेष्ठ या शुभ कर्मों को करना आदेशित किया गया है।

सभी धर्मों में (ईश्वरवादी व अनीश्वरवादी) अतीन्द्रिय बोध के लिये इंद्रियों को वश में कर कर्म करने को, नैतिकता को श्रेष्ठ आचरण एवं शुभ तथा कल्याणकारक माना गया है।[175] गीता मे दुष्कृत्यों (अकल्याणकारक बुरे कर्म) का नाश करने हेतु प्रत्येक युग में धर्म की स्थापना का प्रतिपादन किया गया है।[176] संयम के रूप में (इंद्रियों को वश में करना)[177] सत्य, दम, शम, मन का निग्रह, अंतरबाह्य शुद्धि, दंभाचरण का अभाव, दया, अहिंसा, क्षमाभाव, प्रेम आदि को महत्व दिया जाता है।[178] ये सब सुख देने वाले[179] एवं उन्नत करने वाले हैं।[180] इस प्रकार धर्म में स्वीकार्य नैतिक मूल्य एवं नैतिक आदर्श व्यक्ति

---

172. विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, द्वि. खं., पृ. 194-196

173. पाण्डेय, राजबली, हिन्दू धर्मकोश, पृ. 633; विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, द्वि. खं., पृ. 199-200

174. नियमाच्च।। -वेदा. सू., 3/147

175. (क) छांदों. उप., 2/23/1, 7/2/1

बृह. उप., 1/4/14; मनु; 7/92, 2/1; गीता, 16/24, 16/2-3, 10/4

(ख) सूत्र कृ. सू., 442; तत्वा. सू., 1/1

(ग) धर्म चक्रपवर्त्तन, प्रथम प्रवचन, धम्मपद, 105, 178, 183; मज्झिम नि., 21

(घ) Bibile, Leve., 19/9-18; 31-36; Matt., 19/17-19

(ङ) कुर, शरीफ़, सूरा 4/29, 36, 37; 6/152; 11/23; 16/90-91; 24/30-33

176. 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे।। -गीता, 4/8

177. वही, 8/12

178. वही, 10/4, 13/10, 16/2-3; महाभा., शांतिपर्व, अध्याय 21, 70/13

179. महाभा., शांतिपर्व, 71/24

180. वही, 70/13, 71/24-31

व समाज में कर्तव्य बोध जाग्रत करते हैं। अतः धर्म का एक लक्षण कर्तव्य विधान करना भी माना गया है।[181] धर्म का यह लक्षण और आचरण लोक कल्याण के लिये आवश्यक है।

संसार से पलायन कर मनुष्य न तो पूर्णत्व को उपलब्ध हो सकता है और न ही कोई भी कर्म करके अकर्म (निष्कर्मता) की दशा को उपलब्ध कर सकता है।[182] मनुष्य जब तक जीवित है तब तक वह एक पल भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता।[183] ईश्वर के प्रति हमारा प्रेम सृष्टि के प्रति हमारे प्रेम के रूप में अभिव्यक्त होता है। अतः उसके अनुकूल आचरण अर्थात् निष्काम कर्म – अर्थात् अनासक्ति (कर्मफल की इच्छा त्याग कर कर्म करना) से परम शांति की उपलब्धि होती है।[184] इसके विपरीत क्रूरकर्मी एवं भ्रष्ट आचरण (दंभ, मान, मद, अज्ञानजनित मिथ्या सिद्धांत, कामनामय कर्म)[185] से आसुरी वृत्ति (श्रेष्ठ आचरण का अभाव)[186] उत्पन्न होती है। इस प्रकार से सभी बुरे विचारों का उत्पति स्थल हमारा हृदय (व्यक्ति का हृदय) ही है। सब बुरी बातें हमारे हृदय से ही निकलती हैं।[187] धर्म तत्व इन बुरे विचारों का अपने आध्यात्मिक चिंतन के द्वारा शमन करता है तथा दिव्य शक्ति भाव को हृदय में प्रतिष्ठित करता है।

महात्मा गाँधी, रवींद्रनाथ टैगोर, विवेकानंद, एटकिंसली, विलियम जेम्स, विट्गिसटाइन के अनुसार भी धर्म में शुभ या आदर्श की चेतना के साथ नैतिक भावनाएं समायोजित होती हैं, जो व्यक्ति को सत्कर्म

---

181. वही, 60/7

182. 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिध्दिं समधिगच्छति।।' -गीता, 3/4

183. 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।' -वही, 3/5

184. 'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्धयानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छन्तिरनन्तरम्।।' -वही, 12/12

185. 'एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।।' -वही, 16/9
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्ते ऽशुचिव्रताः।। -वही 16/10

186. 'प्रवृतिं' च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।-वही 16/7

187. Marx, 7/21-22

करने हेतु प्रेरित करती हैं।[188] इस प्रकार धार्मिक अनुभूति से प्रेरित धर्माचरण से व्यक्ति व समाज श्रेय और प्रेय दोनों ही सिद्धि करता है। इसलिये विलियम जेम्स मनोवैज्ञानिक रूप से धर्म में ब्रह्मभाव (महाभाव) या ईश्वरभाव[189] को स्वीकार करते हुए परमात्मा (ईश्वर) की धारणा को समस्त स्थूलताओं से (भौतिकवाद) एवं गणितीय धारणाओं से व्यवहारतः उत्कृष्ट मानते हैं, क्योंकि यह एक ऐसी आदर्श व्यवस्था की गारंटी देती है जिसका अपेक्षाकृत स्थायी रूप से संरक्षण किया जा सकता है।[190] उनके अनुसार आध्यात्मिक निष्ठा (जो धर्मयुक्त होती है) के आधार पर विश्व में सनातन नैतिक व्यवस्था मानने से मानव जीवन में आशावाद का संचार होता है तथा यह विश्वास रहता है कि ये सक्रिय निरंतर आदर्श परमात्मा में निहित हैं तथा वह (परमात्मा) उन आदर्शों को अन्य देश-काल में भी प्रकट करेगा अतः दारूण विपत्ति (दुखद घटना) केवल अस्थायी एवं आंशिक है तथा विनाश और प्रलय पूर्णतः अंतिम अवस्था नहीं है।[191] धर्म में स्वीकृत इस नैतिक व्यवस्था एवं अंतिम रूप से चिरंतन प्रयोजनात्मक तथ्य कि–जो जीवन में नष्ट हो गया है, उसको वे (परमात्मा) फिर से बनाते हैं, निराशाओं में आशा का संचार करते हैं, दुःख से राहत दिलाते हैं।[192]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्म सामूहिक रूप में तो सामाजिक अथवा संस्थागत होता है किंतु व्यक्ति के संदर्भ में यह पूर्णतया उसके अंतर्जगत से संबंधित होता है। दूसरी ओर नैतिकता एक सामूहिक सामाजिक उपक्रम है जो दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच किसी सर्वस्वीकृत मापदण्डी आधार के अनुसार होता है। यह आधार अपने प्रचलित रूप में तो नैतिक क्षेत्र से संबंधित ही होते हैं किंतु इन आधारों की उत्पत्ति अथवा अनुभूति अन्तर्दर्शन अथवा धार्मिक आत्मिक

---

188. (a) Gandhi, M.K. An Autobiography, P. 51; Harijan, 10 Feb. 1940, P. 445
    (b) Tagore, R.N., The Religion of Man, P. 90; Sadhana, P. 58, 85
    (c) Vivekanand, Vivekanand Sahitya, P. 194-195
    (d) Narvane, V.S. Modern Indian Thought, P. 133
    (e) Lee, Atkinson, The Ground work of the philosophy of Religion, P. 80
    (f) James, William, Varieties of Religious experience, P. 505-507
    (g) Wittgenstein, L., 'Lectures and Conversation on Aesthestic', Phychology and Religious Belief, P. 53-54
189. जेम्स, विलियम, प्रयोजनवाद, हि. अनु. -रमेशचंद्र, पृ. 59
190. वही, पृ. 60-61
191. वही, पृ. 61-62 एवं 70
192. वही, पृ. 70

अनुभूति से सम्बन्धित है। परम गहन धार्मिक अनुभूति में धार्मिक व्यक्ति न केवल धर्म की अंतर्वस्तु का अनुभव करता है अपितु वह इसी के साथ उच्चतम नैतिक मूल्यों की भी अनुभूति करता है। बाद में वह इन्हीं मूल्यों को धार्मिक उपदेशों के माध्यम से प्रस्तावित, प्रचारित एवं आदेशित करता है। यही कारण है कि अधिकांश चिंतकों ने नैतिक मूल्यों को धर्म से प्रेरित माना है।

अतः इस संदर्भ में यह मानना उचित ही है कि नैतिक मूल्यों के उद्‌गम एवं उनके अनुभवन के लिये धर्म की न केवल एक भूमिका है अपितु यह उसके लिये अनिवार्य भी हो जाता है। धार्मिक पृष्ठभूमि के अभाव में नैतिक मूल्यों में वह गहराई और व्यापकता नहीं आती है जिसे हम शाश्वत एवं पूर्णत्व के आधार के अभाव में स्वीकार कर सकें। अतः सामान्य नैतिकता के लिये नहीं वरन् उच्चतम नैतिक मूल्यों व आदर्शों की दृष्टि से धर्म की आवश्यकता महत्वपूर्ण ही नहीं, किंतु अनिवार्य भी हो जाती है।

धर्म व्यक्ति को मानसिक शक्ति प्रदान करता है तथा समुदाय में सामाजिक सामंजस्य उत्पन्न करने में योगदान देता है। यह न केवल व्यक्ति को अंतःप्रेरणा प्रदान करता है वरन् मानव मन को उद्‌वेगविहीन कर शांति प्रदान भी करता है। इसमें भौतिक पदार्थ से लेकर परमात्मा तक के प्रकृत स्वरूप के प्रत्येक स्तर का समावेश होता है (पशुत्व, मनुष्यत्व, देवत्व)। इसके (धर्म के) द्‌वारा व्यक्ति सत्ता के रहस्यात्मक अनुभव को अनुभूत करता है। यह रहस्यात्मक अनुभव उसकी आत्मरिक्तता (अपूर्णता) के रिक्त शून्य में एक दैवीय तृप्ति है। इसीलिये जेम्स लिखते हैं कि धर्म की अनुप्रेरणा से मानव की अपनी मलीनता दूर होती है, जीवन संघर्ष में साहस का संचार होता है जीवन में सार्थकता आ जाने से आनंद आने लगता है।[193] अपूर्ण मानव सत्ता से भिन्न एक पूर्ण सत्ता ईश्वर धर्म का एक प्रमुख तत्व होता है जिस पर व्यक्ति का आस्थामय विश्वास होता है। इस विश्वास केंद्रित[194] भाव (आस्था) से आशावाद का जागरण होता है इसलिये ईश्वर नहीं वरन् जीवन-अधिक जीवन, व्यापक, अधिक समृद्‌ध तथा संतोषजनक जीवन ही धर्म का उद्‌देश्य है।[195]

कार्ल गुस्ताव युंग भी मनोवैज्ञानिक आधार पर धर्म की आवश्यकता मानते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति का 'पर्सोना' (व्यक्तित्व) विभिन्न आयामों को अपने में समावेशित करता है, उसमें विभिन्न मानसिक वृत्तियां होती हैं। इन विभिन्न मानसिक वृत्तियों के कारण उनकी अभिवृत्तियां भी भिन्न-भिन्न तथा अनेकपक्षीय होती हैं।[196] और इन अनेकपक्षीय मानसिक वृत्तियों में मैत्री, विवाह, पेशा, समाज आदि की समस्याएं भी होती हैं, जिनका समाधान व्यक्ति अपने जीवन के पूर्वार्ध में करने का प्रयत्न करते हैं और सफल भी होते हैं किंतु उनके जीवन के उत्तरार्ध में मनःस्तापी में बेचैनी अथवा संपूर्णता-प्राप्ति के लिये

---

193. James, William, Varieties of Religious Experience, P. 506-507

194. Ibid, Pragmatism, P. 504

195. Ibid, Varieties of Religious Experience, P. 508-509

196. Jung., C.G. Collected Works. Vol. 16, P. 9 & 71

व्याकुलता उत्पन्न होती है तथा इस संपूर्णत्व के बोध की व्याकुलता के समाधान हेतु व्यक्ति धर्म को अपनाकर अनायास ही क्रमशः धार्मिक अनुभूति की [व्यष्टीयन अवस्था-शैडो, एनिमा-एनिमस, माना प्रतीक (आध्यात्मिक शक्ति-देवता, नबी, देवी मरियम आदि)] एवं मंडल आद्य-प्रतिमा प्रतीक (तारा, क्रूश, सूर्य, फूल या मानव) की ओर बढ़ता है।[197] मंडल दर्शन में व्यष्टीकरण पूर्ण हो जाता है, उसकी व्यक्तिगत समस्याएं समाप्त हो जाती है तथा पूर्ण शांति आ जाती है। यह शांत स्थिर अवस्था ही मानव जीवन की सार्थकता मानी गयी है। अतः युंग के अनुसार यह धार्मिक अनुभूति अचेतन से उन्मज्जित, अनायास, व्यक्ति की इच्छा से स्वतंत्र रूप में होती है।[198] व्यक्ति स्वयं निश्चेष्ट रहता है किंतु अनूभूति का प्रभाव गत्यात्मक होता है, सर्वग्राही होता है अतः इस अनुभूति को 'भ्रम' नहीं कहा जा सकता।[199] वे धर्म और ईश्वर को आवश्यक मनोवैज्ञानिक सत्य मानते हैं। उनके अनुसार धर्म का विषय मानसिक सत्ता है क्योंकि यही मानसिक प्रतिमा (ईश्वर नहीं वरन् ईश्वर की प्रतिमा) ही अनुभूत होती है।[200] इस धार्मिक अनुभूति के द्वारा जीवन सार्थक, सुंदर और शोभनीय बनाया जाता है। यदि इस प्रकार की धार्मिक अनुभूति भ्रममय है और इस भ्रम से जीवन में शक्ति का संचार हो तो भ्रम को ही अपनाया जाना चाहिए।[201] मनोवैज्ञानिक प्रयोगों के निष्कर्ष के रूप में धर्म मानव के लिये आवश्यक है इसीलिये युंग का कहना है कि कोई भी मनःस्तापी ऐसा नहीं मिला जिसके मनःस्ताप का अंतिम समाधान धार्मिक अनुभूति के बिना हुआ हो।[202]

यही नहीं अपितु धर्मों में जो ध्यान योग, आराधना और पूजा की विधियां बतायी जाती है उनका उद्देश्य भी यही होता है कि व्यक्ति में मानसिक स्थिरता आये तथा उसके समग्र व्यक्तित्व के विधिवत् विशुद्धिकरण में सहायता मिले। इसीलिये योग दर्शन में चित्तवृत्तियों के निरोध[203] एवं द्रष्टा (आत्मा) के अपने स्वरूप में स्थित[204] होने का वर्णन मिलता है। योगदर्शन में विभिन्न प्रकार की चित्तवृत्तियों[205] को

---

197. Ibid, Vol. II, P. 458, 468-469.

198. Ibid, Psychology and Religion, P. 21

199. Ibid, P. 113; Collected works, Vol. II, P. 105

200. White, V., God and the Unconscious, P. 256-257

201. Jung, C.G. Modern Man in Search of a Soul, P. 72, 74, 277

202. Ibid, P. 259, 264, 278.

203. 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' -योगसूत्र, 1/2

204. 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' -वही, 1/3

205. वही, 1/4-11

वर्णित करते हुए अभ्यास, वैराग्य, यत्न[206], ताप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान[207], अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि)[208] से संयम एवं स्थिरता का विकास करने से व्यक्ति को तत्वबोध (सत्यज्ञान) होता है। मानव जीवन को लालसा एवं भय से मुक्त करता है, आत्मदर्शन से विश्वात्मा के साथ एकात्मभाव का अनुभव कर समस्त सृष्टि के प्रति प्रेम और उदारता रखता है।[209] सांसारिक वस्तुएं (भौतिक विषय) उसे नहीं लुभाती है क्योंकि भौतिक वस्तुओं की प्रचुरता से ही मानव जीवन की समस्याओं व जिज्ञासाओं का शमन/अंत नहीं हो जाता है। मानव का लक्ष्य सत्यान्वेषण (तत्वज्ञान प्राप्त) करना है।[210], स्वर्ग की प्राप्ति करना मात्र ही नहीं है। मानव यह सत्यान्वेषण धर्म द्वारा प्रदत्त उद्दात्त, दिव्य भावों के द्वारा प्रेरित होकर करता है।[211] महाभारत में भी इस बात का समर्थन किया गया है कि 'चिरंतनता और काल, अमरता और मृत्यु – ये दोनों साथ-साथ मुनष्य जीवन में पाये जाते हैं। मिथ्या विचार या मोह के कारण हम मृत्यु में प्रवेश करते हैं, सत्यानुसरण के द्वारा हम चिरंतन जीवन की प्राप्ति करते हैं।'[212] कारण कि धर्म-में जो कुछ महान है, जो कुछ नवीन और रचनात्मक है, वह मौन प्रार्थना और एकांत मनन के क्षणों में चित्तवृत्तियों के शांत होने पर (स्थिर चित्त) आत्मा की गहराईयों से उद्भूत होता है।[213]

चित्तवृत्तियों के शांत होने से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य उपलब्ध होता है। डॉ. फ्लेण्डर्स डनबार व्यक्ति के मनस् व शरीर की व्याधियों का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार आज का आधुनिक व्यक्ति जो अवसाद पूर्ण एवं तनावग्रस्त निराश मानसिक अस्वस्थ जीवन जी रहा है यदि उससे थोड़ा भी मुक्त हो सके तथा किन्हीं भी उपायों से अपने को शांत एवं स्थिर कर पाने में सक्षम हो जाए तो यह उसके लिये बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। वे मन को शिथिलीकृत करने में आज के व्यक्ति की अक्षमता को

---

206. वही, 1/12-14

207. वही, 2/1

208. वही, 2/28-55; 3/1-4

209. बृह. उप., 4/4/23

210. गीता, 3/26-29; 4/33

211. वही, 17/25-28

212. अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्।

मृत्युः आपद्यते मोहात्, सत्येनापद्यते अमृतम्।। -महाभा., शांतिपर्व 174/30

213. राधाकृष्णन्, प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ. 69

4—259 Min of H.R.D./2005

मानसिक स्वास्थ्य के लिये अशुभ मानते हैं और इसे हमारी आधुनिक सभ्यता का बहुत बड़ा रोग[214] मानते हैं। डॉ. ऑस्टिन फॉक्स रिग्ज़ इस संबंध में मानते हैं कि ध्यान से मन को स्फूर्ति तथा आराम मिलता है व इतनी शक्ति प्राप्त होती है कि वह भविष्य में भी जीवन को संतुलित एवं लचीला बनाने में सहायक होती है।[215]

धर्म मानव जीवन को दृढ़ता, पुनर्जीवन, अनुकंपा, आश्वासन प्रदान करता है।[216] प्राकृतिक मानव का रूपांतरण नूतन जीव (New creature)[217] के रूप में अर्थात् उसे सभ्य एवं सुसंस्कृत करता है। इसी के अंतर्गत भावात्मक आदर्श[218] को आत्मसात् कर व्यक्ति अपनी कालिक अपूर्णता से बचना चाहता है एवं असीम प्रेम को अनुभूत करता है।[219] असीम प्रेम में व्यक्तिगत आत्मा सर्वव्यापक आत्मा के साथ परिवेष्टित होकर आप्तकाम हो जाता है, अकाम बन जाता है तथा शोक से छूट जाता है। व्यक्तिगत आत्मा का यह बोध ही उसे सार्वभौमिक चेतना से संबद्ध कर सर्वेसर्वा बनाता है। ज्ञानी पुरुष (मानव) सांसारिक कार्यों से अपने को विरत नहीं करता प्रत्युत् वह शावश्वत् शक्ति पर अपनी दृष्टि केंद्रित करके सभी कार्यों (स्वपर कल्याण) को करता है। इस प्रकार धर्म मनुष्य को इहलोक और परलोक दोनों से व्यवहारतः संबंधित करता है।

धर्म ने मनुष्य व समाज को मानवोचित रूप दिया है।[220] आध्यात्मिक धर्म से समाज में

---

214. 'One of the most widespread disease of our civilization, and one of the most infrequently recognized.' -(Dr.) Dunbar, Flanders, Mind and Body, P. 138

215. 'Meditation holds refreshment and rest, conserves energy for future needs and helps to keep life balanced and elastic.' -(Dr.) Fox Rigs, Austen, The Reader's - Digest, January 1945.

216. James, William, The Varieties of Religious Experience, P. 160-161

217. Ibid, P. 174

218. Ibid, P. 174

219. Ibid, P. 160

220. 'मानवतावादी धर्म ने किसी अंश में समाज को मानवोचित रूप दिया, विधि और दंड को तथा एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति दृष्टिकोण को मानवीय रूप दिया, यंत्रणा और दासप्रथा के स्थूलत्तर रूपों को दूर किया, दलितों एवे पतितों को ऊपर उठाया, मनुष्य जाति को बड़ी-बड़ी आशाएँ दिलायीं, परोपकार, उदारता और मानव सेवा को प्रोत्साहन दिया, सर्वत्र स्वतंत्रता की भावना को बढ़ाया, उत्पीड़न पर रोक लगायी तथा उसके रूपों की क्रूरता को बहुत कम कर दिया।' -अरविंद, मानव एकता के आदर्श, पृ. 314

एकात्मकता एवं भातृत्वभाव की स्थापना होती है।[221] धर्म की अनुभूति वैयक्तिक एवं वैराग्य प्रधान होती है। उसका (धर्म) संबंध व्यक्ति की उस चेतना से होता है जो उसका उद्दात्तीकरण करती है। इस उद्दात्तीकरण या भाव चेतना के विकास के फलस्वरूप (धार्मिक अनुभूति से) व्यक्ति प्रेरित होकर धर्माचरण करता है तो प्रेम में एकत्व की भावना का समन्वय समाज में होता है। व्यक्ति के प्राकृतिक स्वभाव में जो अहं भाव (मैं करता हूँ) होता है उसे धर्म संतुलित करता है। इस संतुलन के परिणामस्वरूप ही वह स्व एवं पर कल्याण (वैयक्तिक-कल्याण और सामाजिक कल्याण) में सामंजस्य स्थापित कर लेता है। धार्मिक विषयावधारण (विषय, प्रत्यक्ष, अनुभूति, विचार) सामूहिक रूप का होता है और यह सामूहिक यथार्थ को व्यक्त करता है।[222] अतः धर्म को इसलिये आवश्यक मानते हुए दुर्खीम कहते हैं कि 'धर्म पवित्र वस्तुओं से संबंधित विश्वासों और आचरणों की वह संपूर्ण व्यवस्था है जो इन पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय में संयुक्त करती हैं।'[223] थॉमस ओडिया, जॉनसन, डेविस किंग्सले भी धर्म को सामाजिक एकीकरण एवं पवित्र संस्कारों के वृद्धि के लिये आवश्यक तत्व मानते हैं।[224]

अतः यह स्पष्ट होता है कि धर्म व्यक्ति में वह सामाजिक चेतना जागृत करता है जिससे मानव ईकाइयों को समाज के रूप में धारण करता है और इस धारण की धारणा को सामाजिक शक्ति अनुप्राणित करती है। वास्तविक धर्म वैयक्तिक एवं सामाजिकता-दोनों से संबंद्ध होता है। वह इन दोनों की समन्वयकारी आचरणात्मक जीवन की नियामक शक्ति है जिससे मानव स्वभाव की श्रेय एवं प्रेय की अभिव्यक्ति को गति मिलती है। व्यक्ति का संपूर्ण जीवन एक अविच्छिन ईकाई है। धर्म के द्वारा व्यक्ति की संपूर्ण शक्तियों का उपयोग कर एक ऐसी पूर्ण और सहज मानवोचित जीवन पद्धति के विकास पर बल दिया जाता है जो भौतिक एवं मानसिक शक्तियों का व्यक्तित्व के सर्वांग सुंदर विकास और समाज निर्माण में उपयोगी होता है।

वस्तुतः धर्म मत या धर्म सिद्धांत स्वयं धर्म नहीं वरन् वे सब मनुष्यों को धर्म (धारण) तक ले जाने वाले साधन मात्र हैं जो मानव भावना को रूपांतरित करते हैं। वह देश-काल की सीमाओं में न बंधने वाला सार्वभौमिक सत्य है जो प्राणीमात्र को विश्वात्मा से आबद्ध करता है। वह मानव जीवन को गरिमा प्रदान

---

221. वही, 326, 317

222. Durkheim, Emile, Elementary Forms of Religious life, P. 22; Ames, E.S. Religious Values and the Practical Absolute, International Jour. of Ethics, XXXII, No. 4.

223. 'Religion is the unified system of beliefs and practices related to sacred things which unite into one single moral communicating.....all those who adhere to them.' -Durkheim, Emile, Elementary Forms of Religious life, P. 47.

224. O'Dea, Thomas, Sociology of Religion, P. P. 12; Johnson, Sociology, P. 459; Davis, Kingsley, Human Sociology, P. 532

तक संभव हो, समग्र मानव अनुभूति की व्याख्या करना दार्शनिक का कर्तव्य है, और यदि अनुभूति का कोई महत्वपूर्ण विभाग उसके पर्यवेक्षण के बाहर रह जाता है तो दार्शनिक जिज्ञासा आरंभ में ही कुंठित हो जाती है।'[243]

भारतीय चिंतक डॉ. राधाकृष्णन् एवं स्वामी सत्यभक्त भी धर्म एवं दर्शन के अंतर को स्वीकार करते हुए, दोनों को परस्पर संबद्ध मानते हैं। डॉ. राधाकृष्णन लिखते हैं कि 'दर्शन पूर्णता (पूर्ण सत्ता) का उत्तर तर्क से देता है जबकि धर्म इसका उत्तर विश्वास से देता है।'[244] यद्यपि जहां तक उद्देश्य का संबंध है दर्शन और धर्म एक दूसरे से पृथक हैं। धर्म का लक्ष्य आत्मा की मुक्ति (आध्यात्मिक मूल्य की प्राप्ति) है जबकि दर्शनशास्त्र का लक्ष्य सत्य की खोज करना है।[245] स्वामी सत्यभक्त के मतानुसार 'धर्म व दर्शन का कार्य और आधार भिन्न हैं। धर्म का कार्य जीवन शुद्धि के नियम या विधि-विधान बनाना है जबकि दर्शन का कार्य विश्व की व्याख्या करना है। धर्म दर्शन का प्रेरक है पर नियंत्रक नहीं। धर्म के ध्येय की पूर्ति के लिये दर्शनशास्त्र है इसलिये धर्म को दर्शन का प्रेरक कह सकते हैं पर दर्शन पर नियंत्रण तर्क का रहता है धर्म का नहीं।[246] धर्म में विवेक को महत्व देने पर अंततः उसका आधार श्रद्धा को ही बनाया जाता है और दर्शन अंततः सदैव तर्क से प्रेरित होता है। यद्यपि दर्शन में धर्म एवं धार्मिक मान्यताओं की असत्य, अवैज्ञानिक, अतार्किक मान्यताएं स्वीकार्य नहीं होती हैं, दर्शनशास्त्र उन्हें सत्य या असत्यता की कसौटी पर कसता है किंतु धर्म के अंतर्गत मानव कल्याण या विश्व के कल्याण के लिए दर्शन की दृष्टि से परस्पर विरोधी मान्यताएं भी स्वीकार्य हो जाती है।[247] जैसे युक्तियों के आधार पर परलोक का खंडन कर दिये जाने पर भी पुण्य-पाप आदि फल की दृष्टि से धर्म इसे सत्य ही मानता है। फल इस जन्म में यदि नहीं मिला तो अगले जन्म में अवश्य मिलेगा तथापि दर्शन का धर्म से कुछ विशेष संबंध भी अवश्य है।[248]

अतः यह कहा जा सकता है कि दर्शन व धर्म भिन्न क्षेत्रों से संबंधित होते हुए भी परस्पर पूरक हैं। धर्म में दर्शन का समावेश हो या न हो किंतु दर्शन अपनी व्यापकता के अनुसार धर्म को भी चिंतन का विषय बनाता है तथा उसे यौक्तिक आधार प्रदान करता है। दर्शन अपने समग्र रूप में ज्ञान, प्रमाण, सृष्टि, नैतिकता, धर्म, तत्वमीमांसा आदि की सत्य, निष्पक्ष, तर्कपूर्ण, बौद्धिक सैद्धांतिक व्याख्या कर उन्हें

---

243. Hicks, G. Davas, Philosophical Basis of Theism, P. 18-19.

244. 'Philosophy answers the problem of the whole by logic while Religion answers it by faith.' -Radhakrishanan, S., The reign of Religion in contemporary Philosophy, P. 5

245. 'While the Salvation of the soul is the end of religion, the discovery of truth is the object of philosophy.' -Ibid, P. 5.

246. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 148 1

247. वही, पृ. 149 I-II

248. वही, पृ. 147 II

सुदृढ़ आधार प्रदान करता है। वह तुलनात्मक, विश्लेषणात्मक दृष्टि अपनाते हुए तर्क-वितर्क, आलोचना-प्रत्यालोचना तथा विवेकपूर्ण मंथन के द्वारा निष्कर्षों की निरपेक्ष स्थापना करने का यत्न करता है। परम सत्ता की खोज–जिसे प्रायः धर्म श्रद्धा व विश्वास के आधार पर मानता है–को अपना लक्ष्य बनाता है तथा विवेकपूर्ण सद्आचरण द्वारा अभिव्यक्त करता है।

ख. धर्म व धर्मदर्शन :

हम धर्म के अर्थ व एवं स्वरूप पर विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं। पूर्व विवेचन में धर्म का प्रमुख लक्ष्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास एवं समाज के कल्याण हेतु मार्गदर्शन करना रहा है अतः यहां हम विशेष रूप से धर्मदर्शन के विषय में विचार करने का यत्न करेंगे।

वस्तुतः धर्मदर्शन न तो स्वयं धर्म ही है और न ही दर्शन। बरन् धर्म के दार्शनिक विवेचन को ही धर्मदर्शन कहते हैं। जॉन हिक के अनुसार 'धर्म के संदर्भ में दार्शनिक चिंतन ही धर्मदर्शन है' ।[249] प्रो. गैल्वे लिखते हैं कि 'धर्मदर्शन दार्शनिक विधियों एवं दार्शनिक सिद्धांतों का धर्म पर प्रयोग है।[250]

अन्य पाश्चात्य विचारकों के अनुसार-'धर्मदर्शन धर्म की सत्यता तथा धर्म के व्यवहारों एवं विश्वासों की मूल विशेषताओं का संपूर्ण जगत की दृष्टि से विवेचन करता है तथा धर्म का संबंध तत्व से निश्चित करता है।'[251] प्रो. डी.एम. एडवर्ड के अनुसार, 'धर्मदर्शन धार्मिक अनुभूति के स्वरूप, व्यापार, मूल्य तथा सत्यता की दार्शनिक खोज है।'[252] प्रो. ब्राइटमैन के अनुसार, 'धर्मदर्शन धर्म की बौद्धिक व्याख्या की खोज का एक प्रयास है। यह धर्म का संबंध अन्य अनुभूतियों से बतलाकर विश्वासों की सत्यता, धार्मिक मनोवृत्तियों एवं आधारों का मूल्य स्पष्ट करता है।'[253]

---

249. 'Philosophy of religion for what (by analogy with Philosophy of science, Philosophy of art, etc.) is its proper meaning, namely, Philosophical thinking about religion.' -Hick John, Philosophy of Religion, P. 1

250. Gallaway, Garge, The Philosophy of Religion, P. 2

251. 'Philosophy considers the truth of Religion, what is the ultimate significance of its practices and beliefs in an interpretation of the world as a whole, or more technically, the relation of Religion to Reality.' -Wright, W.K., A students Philosophy of Religion, P. 4

252. 'It is a Philosophical inquiry into the nature, function, value and truth of religious experience.' -Edwards, D.M., The Philosophy of Religion, P. 12

253. 'Philosophy of religion is an attempt to discover by rational interpretation of religion and its relations to other types of experience, the truth of religious beliefs and the value of religious attitudes and practices.' Brightman, A Philosophy of Religion, P. 22

धर्मदर्शन के संबंध में उपर्युक्त सभी मान्यताएं धर्मदर्शन को धर्म पर चर्चा अथवा चिंतन करने वाला विषय मानती हैं। धर्मदर्शन स्वयं धार्मिक अनुभूति नहीं हैं किंतु धार्मिक अनुभूति का, धार्मिक प्रत्ययों, अवधारणाओं आदि का अध्ययन है। धर्मदर्शन के द्वारा धर्म के संबंध में किया जाने वाला चिंतन एवं चिंतक धर्म की आलोचना करने वाला भी हो सकता है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि धर्म दार्शनिक (जो धर्म के संबंध में विवेचना प्रस्तुत करता है) स्वयं धर्माचारी हो।[254]

धर्मदर्शन के अंतर्गत विश्व के समस्त धर्म और उनके विषय क्षेत्र के अध्ययन की विषय-वस्तु होती है। वह ईश्वरवादी एवं अनीश्वरवादी, आत्मवादी एवं अनात्मवादी धर्म के प्रत्यय-प्रतीक तत्व, ईश्वर के गुण आदि की विवेकपूर्ण निष्पक्ष तुलनात्मक बौद्धिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। उन्हें तार्किक आधार प्रदान करता है। इसलिये वर्तमान में भी मानव जीवन के लिये धर्मदर्शन का विशिष्ट महत्व है।

महर्षि अरविंद घोष के अनुसार 'धर्म एक क्षण भी खड़ा नहीं रह सका होता यदि वह महान सत्यों की बौद्धिक व्याख्या से अपनी पुष्टि नहीं करता, चाहे वे कितने ही अपर्याप्त हों।'[255] महर्षि योगी अरविंद का यह मत भी धर्मदर्शन के दार्शनिक विवेचन को आवश्यक मानते हुए धर्मदर्शन के कार्य को महत्ता प्रदान करता है। सत्य के लिये सत्य का अन्वेषण अपने आप में महत्वपूर्ण होता है इस बात को वे स्वीकार करते हैं, किंतु मानव कल्याणकारी परम सत्य की उपलब्धि उससे अधिक महत्वपूर्ण होती है, जिसे दर्शन एवं धर्म के सहयोग से ही प्राप्त किया जा सकता है। धर्म में जीवन के परम मूल्यों व परम तत्व के प्रति आस्था एवं अनुभूति महत्वपूर्ण होती है। इन परम मूल्यों तथा अनुभूतियों को सार्वजनिक रूप से स्पष्ट करने हेतु भाषा, बुद्धि, तर्क आदि आवश्यक होते हैं। धर्मदर्शन इन मूल्यों की एक बौद्धिक व्यवस्था है जो अपनी चिंतनपरक भाषा में मानव की तार्किक तथा बौद्धिक संतुष्टि के लिये धार्मिक अनुभूतियों, मान्यताओं, आस्थाओं, भावनाओं, विचारों, कथनों एवं नियमों का यथासंभव सत्य बौद्धिक विश्लेषण, एवं तार्किक व्याख्या करता है। यह धर्म में उन सब प्रकार की कट्टरता, तर्कहीनता, रूढ़िवादिता के विरुद्ध उपयुक्त औषधि है जिनके कारण असहिष्णुता एवं अंधविश्वास पनपते हैं। धर्मदर्शन धार्मिक चेतना से प्राप्त दिव्य जीवन की दार्शनिक अभिव्यक्ति है, व्याख्या है तथा दोनों ही (धर्म एवं धर्मदर्शन) सत्य को महत्व देते हैं।

---

254. मसीहा, याकूब, समकालीन धर्मदर्शन, पृ. 3

255. 'Religion could not stand for a moment if it did not support itself by intellectual presentation, however inadquate, of profound truth.' -Aurobindo 'Views and Reviews', Sree Aurobindo Ashram, Pondicherry (1946), P. 3

ग. धर्म एवं विज्ञान :

विज्ञान की परिभाषा करते हुए यह कहा जाता है कि विज्ञान वह है जिसमें व्यवस्थित[256] चिंतन के परिणामस्वरूप सिद्धांत एवं प्रयोग होते हैं। यह एक प्रकार से प्रयोग को सर्वाधिक महत्व देता है अतः इसकी प्रमाणिकता का आधार अनुभूत तथ्य, तर्क, युक्ति होते हैं जो बुद्धिजनित होते हैं जिनके आधार पर वैज्ञानिक मापन, तोलन, परिकलन, वर्गीकरण करके कारणों का निर्धारण एवं नियमों को सूत्रबद्ध करता है। तथ्यों का विश्लेषण, वर्णन और व्याख्या करता है।[257]

दूसरी ओर धर्म श्रद्धा, विश्वास एवं दिव्य सत्ता से संबंधित होता है जिन्हें विज्ञान सत्य नहीं मानता, क्योंकि प्रायः धर्म अथवा धार्मिक विश्वास अनभूतिपरक एवं श्रद्धाजनित होते हैं उन्हें तर्क द्वारा अथवा इंद्रियानुभव द्वारा या उपकरणों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। धर्म का अनुभव व बोध श्रुति के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। उसमें भावनात्मक दृष्टिकोण अनिवार्यतः रहता है।[258] अतः धर्म को विज्ञान का विरोधी एवं मानव प्रगति में बाधक माना गया है।[259] यह सत्य है कि धर्म में भावनात्मक दृष्टिकोण अनिवार्यतः रहता है तथा उसमें पारलौकिकता[260], ईश्वरीय विचार[261] भावना[262] आदि पाये जाते हैं। अतः अमरीकी समीक्षात्मक यथार्थवादी विचारक सेलर्स का मानना है कि विज्ञान का वास्तविक विरोध धर्म की पारलौकिकता को लेकर है।[263] अतींद्रिय ईश्वर, मृत्योपरांत स्वर्ग-नरक जाने की मान्यताओं को वर्तमान में (वैज्ञानिक विकास के परिप्रेक्ष्य में) स्वीकार किया जाये तो धर्म का अस्तित्व बना रहेगा यह संदेहास्पद हो सकता है, इसलिये वे स्पष्ट कहते हैं कि 'धर्म का भविष्य पारलौकिकता को तिलांजलि देने में ही है।[264] सेलर्स कहीं पर यह नहीं कहते हैं कि हमें धर्म का त्याग कर देना चाहिए। वरन् उनका आशय है कि धर्म में जो पारलौकिकता का प्रत्यय है वह विज्ञान व तर्क से मेल नहीं खाता हैं, क्योंकि वह अति प्राकृतिक है एवं उसे मानवीय बौद्धिक ज्ञान के रूप में सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः वे मानते हैं कि अनुभूत तथ्यों की उपेक्षा करने वाले तत्वों का आश्रय न लेकर क्रियाशील प्राकृतिक परिवर्तनों के आधार पर विश्व की एवं चेतना की व्याख्या की जानी चाहिए।[265] वे धर्म के नैतिक तत्व को स्वीकार करते हैं क्योंकि एक प्रकार से धर्म जीवन-यापन करने की एक कला है।

---

256. Leighton, Joseph A, The Field of Philosophy, P. 4

257. Moore, Jared sparks. The Foundations of Psychology, P. 97

258. Melcam, Norman 'Is it A Religious Belief that God Exist?', Faith and the philosophy, P. 107.

259. Marx. on Religion, P. 7-9; Hagvein. The Nature of Living Matter, P. 263

260-262. Flint, Theism, P. 52, 53, 2; Anti Theistic Theories. P. 336, 339

263. Sellars, R.W., The new step in Religion, P. 11

264. Ibid, P. 11

265. Contemporary American Philosophy, part I, P. 270 and 277

धर्म और विज्ञान दोनों के अपने-अपने क्षेत्र हैं तथा धर्म और विज्ञान दोनों ही हमारे ज्ञान के आवश्यक अंग हैं।[266] धर्म हमारे जीवन के गंतव्य को निश्चित करता है, परंतु विज्ञान हमारे समक्ष उन साधनों को प्रस्तुत करता है जो गंतव्य अथवा लक्ष्य तक पहुंचने में सहायक होते हैं। इसलिये आइंस्टीन के अनुसार 'धर्म के अभाव में विज्ञान पंगु है और विज्ञान के अभाव में धर्म अंधा है।'[267] उक्त कथन के द्वारा आइंस्टीन यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि धर्म केवल काल्पनिक प्रत्ययों को ही मानता रहे तो वह अंधश्रद्धा या अंधविश्वास बन जाता है। अतः कल्पनात्मक प्रत्ययों का बहिष्कार किया जाना चाहिए।[268] किंतु साथ ही श्रेष्ठ एवं अनंत ज्ञान के रूप में धर्म व ईश्वर के महत्व को स्वीकार करते हैं।[269] क्योंकि विज्ञान इंद्रियगोचर विश्व जो कि अनुभवगम्य (Empirically experienced) है- के विषय में ही जानकारी दे सकता है, अतींद्रिय अनुभूतियों जैसे नैतिक अनुभूतियां, धार्मिक अनुभूतियां, सौंदर्यानुभूतियां आदि के संबंध में नहीं। भौतिक विज्ञान अपरिमित सत्य तक पहुंचने में अपने को असमर्थ पाते हैं अतः सत्यबोध हेतु एक अन्य मार्ग ही शेष रह जाता है जो कि गुह्य अर्थात् रहस्मय अध्यात्मवादी चिंतन प्रस्तुत करता है, वह है धर्म और आधुनिक विज्ञान द्वारा उसके संबंध में कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं।[270]

अमेरिकन विचारक जॉर्ज सेंटियाना (प्रकृतिवादी) धर्म का पूर्ण तिरस्कार नहीं करते हैं वरन् धर्म एवं विज्ञान के क्षेत्र को पृथक-पृथक मानते हुए धर्म को जीवन में सांत्वना प्रदान करने वाला, भावनाओं की अभिव्यक्ति एवं सत्य को महत्व देने वाला उपयोगी[271] तत्व मानते हैं। धर्म व विज्ञान में संघर्षात्मक स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब धर्म विज्ञान का एवं विज्ञान धर्म का स्थान लेना चाहता है।[272] सांसारिक कष्टों व दुःखों का (जो वास्तविक समस्या है) वास्तविक निराकरण, वास्तविक तरीकों से ही होता है

---

266. Bronstein and Schulweis (Edi.), Albert Einstein, 'Science and Religion', Approach to the Philosophy of Religion, P. 69

268. 'The Situation may be expressed by an image : Science without Religion is lame, religion without science is blind.' Ibid, P. 69

268. Ibid, P. 69

269. 'My religion consists of an humble admiration of the illimitable superior spirit who reveals himself in the slight details we are able to percieve with our frail and feeble mind. That deeply Emotional conviction of the presence of a superior reasoning power which is revealed in the incompreshnsible universe, forms my idea of God.' Quoted in Lincolon Barnett, The universe and De Einstein, P. 95.

270. 'Modern science does not offer a proof of religion which could be substituted for the mystical experience, but by abolishing the notion of innert material substance and the notion of strict universal determinism, it encourages a spiritual view of the world and lends its support of the mystical insight.' -Macquarrie, John, Twentienth century Religious Thought, P. P. 247-48

271-72. Adman, Erwin, The Philosophy of Santayana, P. 654-55

उनकी निःस्सारता एवं काल्पनिकता के द्वारा नहीं।[273] धर्म की विफलता का कारण दुःखों के निवारण के लिये काल्पनिक निदान (अप्राकृतिक) देना है।[274] यदि धर्म में भी यथार्थता के आधार पर समस्याओं का निराकरण करने पर बल दिया जाए तो धर्म और विज्ञान में विरोधात्मक संघर्ष नहीं रहेगा। सेंटियाना के ये विचार आइंस्टीन की भांति धर्म से काल्पनिकता का निराकरण करने पर बल देते हैं ताकि सत्यबोध सहजता से हो सके। किंतु आइंस्टीन धर्म में रहस्यानुभूति के कारण ही उसे विज्ञान से पृथक एवं अंततः अपने आप में महत्वपूर्ण मानते हैं।

धर्म व विज्ञान में कोई विरोध न मानते हुए वैज्ञानिक मैक्स प्लैंक कारण कार्य को अभ्युपगम आधार (वर्तमान पूर्ण रूप से भूतकाल की उपज है, कारण के बिना कोई घटना घटित नहीं होती) के रूप में मानते हुए सभी वैज्ञानिक अनुसंधानों को इसी अभ्युपगम के आधार पर संभव मानते हैं तथा इस अभ्युपगम (कारणता नियम) के बिना सब (वैज्ञानिक ज्ञान) निरर्थक हैं। जैसा कि वे कहते हैं कि कारणता के नियम को अनुसंधान के आरंभ में मानकर वैज्ञानिक तत्वमीमांसा के क्षेत्र में कूद पड़ता है, क्योंकि कारणता का नियम इंद्रियानुभव से बिल्कुल भी प्राप्त नहीं होता[275], और धर्म तत्वमीमांसीय (इंद्रियानुभव से परे) होता है। ये विश्व की धार्मिक और वैज्ञानिक व्याख्याओं को मानव जीवन को संतुलन प्रदान करने वाला मानते हैं। उनके अनुसार 'प्रत्येक विमर्शी चिंतक यह स्वीकार करता है कि मानव जीवन को संतुलित एवं सामंजस्य रूप देने में धार्मिक तत्वों का एक महत्वपूर्ण योगदान है, अतः धर्म और विज्ञान के बीच कोई वास्तविक विरोध नहीं है, क्योंकि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।[276]

धर्म एवं विज्ञान के संबध में स्वामी विवेकानंद एवं स्वामी सत्यभक्त का चिंतन भी महत्वपूर्ण है। दोनों ही धर्म व विज्ञान को भिन्न किंतु महत्वपूर्ण मानते हैं। स्वामी विवेकानंद विज्ञान व धर्म का तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। वे मानते हैं कि इंद्रिय संवेदनों की भिन्नता की भांति ही व्यक्ति को भिन्न-भिन्न मानसिक संवेदन[277] होते हैं तथा सभी मानसों के अभ्यंतर अनुभवों के अंतर्गत सामान्य एकता भी रहती है, जिसके अनुभव द्वारा सभी साधक अंत में एक जैसी अवस्था का बोध करते हैं।[278] प्रारंभ में धार्मिक

---

273. Santayana, Garge, 'The life of reason', reason in relgion. P. 12

274. Ibid, P. 12

275. Planck, Max, Where is Science Going? P. 158

276. 'There can never be any real opposition between religion and scince, for the one is the complement of the other. Every serious and reflective person realises that the religious element in his nature must be recognized and cultivated if all the powers of the human soul are to act together in perfect balance and harmony.' - Ibid, P. 168

277-278 विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, द्वि. खं., पृ. 252

(रहस्यवादी) विज्ञान की भांति स्वयं स्वानुभव के माध्यम से सत्यान्वेषण करते हैं फिर उसे सूत्रबद्ध कर धर्म की शिक्षा देते हैं।[279] धर्म तात्विक जगत के सत्यों से ठीक उसी प्रकार संबंधित है, जिस प्रकार रसायन शास्त्र एवं भौतिक विज्ञान भौतिक जगत के सत्यों से। रसायन शास्त्र आदि विज्ञान पढ़ने के लिये प्रकृति की पुस्तक पढ़ने की आवश्यकता होती है तो धर्म के लिये व्यक्ति का अपना हृदय एवं बुद्धि होती है और प्रत्येक भिन्न भिन्न विषयों से संबंधित अध्ययनकर्ता प्रायः अन्य विषयों से अनभिज्ञ ही रहते हैं।[280] वैज्ञानिक धर्म से अनभिज्ञ रहते हैं तो धर्मज्ञ विज्ञान से। वैज्ञानिक विविधों की भांति ही धर्मबोध की भी भिन्न-भिन्न विधियां है। अतः यदि विज्ञान सत्य है तो धर्म भी सत्य है। दोनों में कोई विरोध नहीं है वरन् दोनों के क्षेत्र ही पृथक-पृथक हैं। वे भी धर्म में अन्वेषण एवं बुद्धिसंगत विश्लेषण को आवश्यक मानते हैं ताकि धर्म में अंधविश्वास विकसित न हो।[281]

स्वामी सत्यभक्त धर्म व विज्ञान को मानव विकास में सहयोगी (पूरक) मानते हैं। उनके अनुसार यह कहना कि 'धर्म, विज्ञान के साथ मेल नहीं बैठा सकता' बिल्कुल गलत है। जगत में जो नई-नई धर्मसंस्थाएं उत्पन्न होती हैं उनके दो मुख्य कार्य होते हैं-प्रथम परिस्थिति के अनुसार नये आचार-विचार देना। द्वितीय-विज्ञान के साथ मेल बिठाना। अपने युग के विज्ञान के साथ मेल बिठाये बिना कोई धर्म संस्था (धर्म को बनाये रखने वाला मनोवैज्ञानिक प्रयत्न) टिक नहीं सकती।[282]

धर्म और विज्ञान का मेल तभी विच्छिन होता है जब धर्मसंस्था पुरानी और युगबाह्य होकर भी अपना पुनर्जन्म या कायाकल्प नहीं करती है और विज्ञान अपना कायाकल्प (परिवर्तन) कर लेता है।[283] यदि दोनों अपना युगानुसार कायाकल्प कर लेते हैं, अर्थात् युगानुरूप बौद्धिक व ज्ञानात्मक वृत्ति के साथ परिवर्तन कर समन्वय कर लेते हैं तो उनमें कोई विरोध नहीं रहता है। ऐसी स्थिति में विज्ञान भौतिक, आर्थिक विकास के साधन जुटाता है तो धर्म उसे व्यवस्था व संस्कार प्रदान करता है।[284]

धर्म एवं विज्ञान के इस विवेचन से यही स्पष्ट होता है कि धर्म व विज्ञान में यद्यपि तार्किकता, अन्वेषण विधि, विषय सामग्री आदि को लेकर पर्याप्त अंतर पाया जाता है किंतु दोनों को एक दूसरे के पूर्णतः विरोधी मानना मानव कल्याण की दृष्टि से तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है। पूर्ण संतोषप्रद जीवन

---

279. वही, पृ. 251

280. वही, पृ. 251

281. वही, पृ. 276, 278

282. सत्यभक्त, सत्यामृत (दृष्टिकाण्ड), पृ. 136।

283. वही, पृ. 136।

284. वही, पृ. 136।

के लिये धर्म और विज्ञान दोनों ही आवश्यक हैं। धर्म एवं विज्ञान में जो विरोध माना जाता रहा है वह इन दोनों के वास्तविक स्वरूप, विषय वस्तु, पद्धति एवं उपयोग को न समझ पाने के कारण है।

घ. धर्म एवं नैतिकता :

मानव जीवन के विभिन्न पक्षों को दृष्टि में रखते हुए ही मानवोचित मूल्यों की स्थापना की जाती हैं। ये मूल्य सभ्यता, संस्कृति, नीति, धर्म, सद्‌गुण, राजनीति आदि के संदर्भ में स्वीकार किये जाते हैं। मानव जीवन में धर्म एवं नैतिकता का विशेष महत्व होने के कारण चिंतकों ने इन दोनों के संबंध पर विविध प्रकार से चिंतन किया है। इन दोनों में क्या और कैसा संबंध हैं हम इस पर संक्षेप में विचार करेंगे।

धर्म का अर्थ धारणात्मक तत्व से है। वह कोई मत, पंथ या संप्रदाय आदि नहीं है, वरन् उन नियमों, वृत्तियों, आध्यात्मिक अनुभवों व कृत्यों का आचरण है जिनको श्रेयस्कर माना गया है। नीति शब्द से ही नैतिकता शब्द विकसित हुआ है। नीति का शाब्दिक अर्थ किसी कार्य की सिद्धि के लिये अपनायी (प्रयुक्त) जाने वाली युक्ति या उपाय[285] जो लोक या समाज के कल्याण के लिये उचित ठहराए हुए आचार-व्यवहार की निर्धारित व्यवस्था या नियम रूप व्यावहारिक सिद्धांत है।[286] इसे व्यवहार की रीति भी कहा जा सकता है। दर्शन परिभाषा कोश के अनुसार 'नैतिक आदर्श की दृष्टि से आचरण का अध्ययन करने वाला शास्त्र अथवा मुख्य रूप से मानव-स्वभाव, आदर्श और उसका अनुसरण करने के लिये बनाये गए नियमों से संबंधित विचारों का तंत्र विशेष'[287] नीति कहलाता है। नीति एवं दर्शन की वह शाखा जो कर्म में उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, पुण्य-पाप इत्यादि भेदों का विवेचन करती है तथा इन भेदों के मूल में जो आदर्श निहित है उसका निरूपण करती है[288] आचार नीति अथवा नीति शास्त्र कहलाती है। वह शास्त्र जिसमें मनुष्य समाज के हित के लिये आचार, व्यवहार और शासन विधान हो, नीतिशास्त्र[289] कहलाता है। यह ज्ञान की वह शाखा है जिसमें नैतिक मूल्यों व प्रत्ययों का अध्ययन किया जाता है।[290] इसके अंतर्गत व्यक्ति के आचरण या चरित्र की वह विशेषता जो उसके नैतिक आदर्श के अनुरूप होने से या उसका अनुसरण करने से उसमें आती है-नैतिकता कहलाती है।[291] अंग्रेजी में ग्रीक

---

285. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृ. 567
286. वही, पृ. 566, 567
287. दर्शन परिभाषा कोश, पृ. 267
288. वही, पृ. 151
289. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृ. 567
290. Srinivas, K., A Dictionary of Philosophy, P. 66
291. दर्शन परिभाषा कोश, पृ. 267

के Ethos शब्द से उत्पन्न Ethics और Mores से उत्पन्न Moral का अर्थ क्रमशः आचार रीति या रीति-रिवाज और परंपरा पालन[292] है जो आचार व्यवहार के नियमों के रूप में पालनीय होते हैं।

अतः शब्दकोश के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि नीति यदि आचरण नियमरूप है तो नीतिशास्त्र विषयरूप है जिसमें नीति-आचरण का व विचारों का सैद्धांतिक विवेचन होता है और नैतिकता उन नीति-आचरण का जीवन में व्यावहारिक प्रयोग है जिसमें व्यक्ति सदाचारी एवं निष्ठावान बनता है। अर्थात् नैतिकता नियमों का पालन या सद्गुण युक्त जीवन है।

धर्म के सैद्धांतिक स्वरूप में नीति का और व्यावहारिक स्वरूप में नैतिकता का समावेश अनिवार्यतः किया गया है किंतु नीति या नैतिकता में धर्म का समावेश अनिवार्यतः हो ही यह आवश्यक नहीं हैं। यद्यपि जिस प्रकार से धर्म का संबंध मानव चेतना से है ठीक उसी प्रकार से नैतिकता का संबंध भी केवल मानव चेतना से या मानव जीवन से ही है, उसके कृत्यों को हम नैतिक-अनैतिक, शुभ-अशुभ शब्दों से मूल्यांकित करते हैं न कि पशु के कृत्यों को। मानव में जब पदार्थ एवं आदर्श का द्वंद नहीं होता है तो यह द्वंद[293] नीति एवं नैतिकता के कारण ही होता है। पशु में इस प्रकार का द्वंद नहीं होता। नैतिकता में सद्गुणों का यथा – सत्य, शुभ, ईमानदारी, निष्ठा, उचित, कर्त्तव्य, संयम आदि को समावेशित किया गया है। नैतिक आचरण (नैतिकता) की दृष्टि से सद्गुणों का विशेष महत्व है। अतः नैतिकता[294] को मानव सभ्यता का आधार मानते हुए मानव जीवन दर्शन का निर्धारण किया गया है।

जे.एस. मैकेंजी के अनुसार 'नैतिक जीवन का अर्थ ही है चरित्र निर्माण अर्थात् निश्चित आदतों का निर्माण है'[295] जिनके आधार पर व्यक्ति जीवन यापन करता है अथवा आचरण करता है। निश्चित चरित्रवान आदतों में सत्यता, ईमानदारी जो आत्मनियंत्रण के रूप में चुना गया स्वैच्छिक गुण है, इसके अनुरूप चलना ही स्वधर्म है, श्रेयस है।[296] इसमें स्वतंत्रता एवं समरूपता दोनों ही है, ऐसा उनका मानना है। मैथ्यू ऑर्नाल्ड भी धर्म को नैतिकता से अतिरिक्त नहीं मानते हैं। उनके अनुसार 'धर्म भावना (संवेग) में युक्त नैतिकता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।'[297]

---

292. Muirhead, J.H., The elements of ethics, P. 4

293. Tagore, R.N., Personality, P. 80

294. Roy, Manvendra Nath, New orientation, P. 26, 27

295. 'The moral life means the building up of character i.e. it means the forming of definite habits of action.' -Mackenjee, J.S., A Manual of Ethics, P. 75

296. Ibid, P. 75-76

297. 'Religion is nothing but morality touched with emotion.' -Mathew, Arnold

नैतिक मूल्य आंतरिक मूल्य होते हैं जो अपने कारण मूल्यवान होते हैं।[298] जैसे – सत्य, शुभ, संकल्प, कर्त्तव्य आदि जो कि स्वयं निरपेक्ष एवं साध्य हैं साधन नहीं। ये साध्य मूल्य व्यक्ति को सदाचार की ओर ले जाते हैं। ये स्वयं शुभ होते हैं एवं इनमें कर्त्तव्यबाध्यता पायी जाती है।[299] अतः इनका पालन व्यक्ति नैतिक भावना के कारण[300] करता है, स्वेच्छापूर्वक करता है।[301] मनुष्य की नैतिकता उसकी सहज युक्तिपरकता का परिणाम है और तर्कबुद्धि ही नैतिकता की अनुशास्ति (Moral sanction)[302] है।

कुछ मानवतावादी चिंतक केवल नैतिकता को ही महत्व देते हैं। इनके अनुसार मानवतावाद[303] वह सिद्धांत है जो नैसर्गिक विश्व सृष्टि में विश्वास करता है; किसी अदृश्य शक्ति में विश्वास नहीं रखता है; मानव स्वाभाविक बौद्धिकता से अपनी समस्याएं सुलझाने में समर्थ है; यह विश्व में राष्ट्र, जाति, धर्म आदि के बिना आर्थिक, सांस्कृतिक, नैतिक तथा भौतिक समृद्धि एवं स्वतंत्रता के प्रति प्रबल निष्ठा रखता है; सार्वभौमिक समृद्धि, स्वतंत्रता आदि सभी मानव मूल्यों पर आस्थित (निर्भर) है। अतः इनके अनुसार नैतिक होने के लिये केवल मनुष्य होना ही पर्याप्त है, किसी दैवीय अथवा अनुभवातीत तात्विक सत्ता की अनुशास्ति (अनुमोदन/प्रमाण) की तलाश अनावश्यक है।[304] मानवता के लिये धर्म नहीं अपितु नैतिकता ही सर्वोपरि है।[305] अतः मानव जीवन-दर्शन विकासात्मक नैतिक मूल्यों पर ही आधारित होना चाहिए।[306]

कांट नैतिक मूल्यों (नैतिक नियमों) को निरपेक्ष आदेश के रूप में स्वीकार करते हुए 'क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन' में नैतिकता की आधारभूत मान्यताओं के रूप में संकल्प की स्वतंत्रता, आत्मा की अमरता और ईश्वर के अस्तित्व का उल्लेख करते हैं। ये तीनों मान्यताएं हमारी आस्था पर आधारित है। यद्यपि ईश्वर नैतिक-नियमों का निर्माण नहीं करता है फिर भी वे नैतिकता की प्रेरणा देने वाले सर्वज्ञ

---

298. Wright, General Introduction to Ethics. P. 338

299. Ibid, P. 333-339; Kant, I., Ground works of the Metaphysics of Morals P. 68

300. Kant. I,. Ground works of the Metaphysics of Morals, P. 68

301. Ibid, P. 110

302. 'Reason alone determines moral principles...' -Kant, 1, मसीह, याकूब, पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या, 251: Ray, M.N., Reason, Romanticism and Revolution, Part II, P. 298, 299, 307.

303. Lamont, Corliss, Humanism As a Philosophy P. 19

304. 'To be moral, one needs only to be human, it is not necessary to go in search of divine or metaphysical sanction, Morality is evolutionary'-Ray, M.N., Reason, Romanticism and Revolution, Part II, P. 307.

305. Ibid, New Humanism, P. 84, 101

306. Ibid, New Orientation, P. 26-27, 122

सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, ईश्वर को–सद्‌गुणों को आनंद से युक्त करने के लिये आवश्यक मानते हैं।[307] किंतु उनके मतानुसार ईश्वर को (धार्मिक तत्वमीमांसीय सत्ता) माने बिना, भयरहित होकर 'कर्त्तव्य के लिये कर्त्तव्य का पालन' (बिना किसी अपवाद को मानते हुए) करना, जो अपने आप में शुभ संकल्प से प्रेरित होता है, स्वतः महत्वपूर्ण एवं सर्वश्रेष्ठ हैं।[308]

मानवतावादी विचारक–प्रायः यह मानते हैं कि नैतिकता से ही धर्म का अविर्भाव होता है। पापी (सद्‌गुणों का उल्लंधन करने वालों) को ईश्वर दंड देता है तथा शुभ कर्म करने वालों (सद्‌गुणों का पालन करने वालों) को पुरस्कार देता है–यह विचार ही धर्म का आधार बन सका है। पूर्ण नैतिक विकास होने पर धर्म की और अतींद्रिय सत्ता की कोई आवश्यकता नहीं है। परंतु आधुनिक मानवतावादी चिंतक जैसे लेमॉन्ट, मानवेंद्रनाथ राय आदि अध्यात्म तथा धर्म को पूर्णतः अस्वीकार करते हुए केवल धर्मविहीन नैतिक मूल्यों को ही स्वीकार करते हैं।

पौर्वात्य धर्म चिंतन परंपरा (हिंदू, जैन व बौद्‌ध धर्म) में धर्म से ही नैतिक विकास को संबंद्‌ध करते हुए अनुभव के स्तर पर धर्म सिद्‌धांत के एक पक्ष के रूप में नैतिकता की (सद्‌गुणों की) व्याख्याएं की गयी हैं तथा आचार मीमांसा के रूप में उनको (अहिंसा, सत्य, तप, संयम आदि) वर्णित किया गया है।[309] इस प्रकार धर्म साधना द्‌वारा, अंतदर्शन द्‌वारा अनुभवों के माध्यम से नैतिक नियमों का प्रकाशन (उद्‌घटित) माना गया है। उससे ही समस्त आदर्श व्यवहार, सामाजिक व्यवहार, सार्वभौमिक निःस्वार्थ निर्णय आदि को प्रेरित माना गया है।

जॉन केयर्ड, जॉन हिक, एच.डी. लेविस, कॉर्ल बॉर्थ आदि पाश्चात्य चिंतक भी नैतिकता को धर्म में स्वीकार्य दैव प्रकाशना (ईश्वरीय आदेश) के रूप में स्वीकार करते हैं।[310] ब्रैडले[311] व सैम्युअल अलैक्ज़ेण्डर[312] नैतिकता के अतिरिक्त धार्मिक होना भी एक कर्त्तव्य मानते हुए धर्म को नैतिकता से पृथक और पर्याप्त महत्व देते हैं।

---

307. वर्मा, वेद प्रकाश, नीतिशास्त्र के मूल सिद्‌धांत, पृ. 235-238

308. Kant, I., Ground work of the Metaphysics of Morals, P. 62

309. मनु, 1/207, 7/92; दशवै. सू., 1/1; आचा. सू., 1/6/2/180; धम्मपद, 13/167-169

310. (a) Caird, John, An Introduction to the Philosophy of Religion, P. 150; Hick, John, Arguments for the existence of God, Intro. P XIII; Lewic, H.d., The Philosphy of Religion., P. 227; Barth, Carl, The doctrine of the word of God, P. 14

311. 'Morality is led beyond it Self into a higher form of goodness. it ends in what we may call religion.' Bradley, F.H., Appearance and Reality, P. 388

312. Alexander, S., Space, Time and Deity, P. 408

5—259 Min. of H.R.D./2005

इसके कारण रूप में यह माना जा सकता है कि धर्म विहिन नैतिकता मानव के बौद्धिकता से परिपूर्ण आचरणात्मक पक्ष को ही प्रभावित करती हैं, मन अथवा हृदय के भाव पक्ष को नहीं। धर्म के अभाव में नैतिकता जीवन में विभिन्न आयामों (प्रेम, उपासना, भावना आदि) की उपेक्षा कर जिस तर्कपरक बौद्धिक स्तर पर मानवीय आदेश विषयक नैतिक संभावनाओं को प्रस्तुत करती हैं यह सब स्तर के लोगों (भावना प्रधान व भक्ति प्रधान, कर्म प्रधान आदि) के लिये पूर्णतः पालनीय नहीं हो सकते हैं।

ऐसी नैतिकता मनुष्य को शुष्क कर्त्तव्यनिष्ठ बनाती है जो कि एक प्रकार से भावना शून्य होती है। दूसरी ओर धर्म अंतःकरण की गहन अनुभूति के आधार पर लोकसेवा और लोककल्याण की भावना से प्रेरित होकर अनुभवातीत, अतींद्रिय सत्[313] से संबंद्ध कर व्यक्ति की नैतिकता को आध्यात्मिक तत्वों से समायोजित करता है। धर्म के द्वारा होने वाली नैतिकता की अभिव्यक्ति मानव की तीनों वृत्तियों अथवा पक्षों (ज्ञान, भाव एव कर्म) के समन्वय का परिणाम है। अतः नैतिकता विहीन धर्म का चिंतन करना एवं धर्मविहीन नैतिकता का समर्थन करना मानव जीवन का एकांगी पक्ष ही होगा।

अतः उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि यदि नैतिकता का लक्ष्य व्यक्ति को सद्गुणों से युक्त कर शांतिपूर्ण, कर्त्तव्यनिष्ठ जीवन जीना है तो धर्म का लक्ष्य भी आध्यात्मिकता के आधार पर व्यक्ति व समाज में मानवीय सद्गुणों को विकसित कर भ्रातृत्व एवं सौहार्दभाव के आधार पर शक्तिपूर्ण जीवन जीना तथा श्रेष्ठतम मूल्यों की उपलब्धि कर परमसत्ता से संबद्ध होना है। अतः दोनों के युगानुरूप समन्वय से ही मानव जीवन निःश्रेयस की उपलब्धि कर सकता है। यह मत उचित प्रतीत होता है क्योंकि धर्म एक विस्तृत एवं व्यापक अर्थयुक्त शब्द है जिसके अंतर्गत नैतिकता भी समावेशित है। धर्म नैतिकता का आदर्श आधार है एवं नैतिकता समाज में व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना तथा संकल्पात्मक पक्ष की आदर्श अभिव्यक्ति है। धर्म एवं नैतिकता दोनों ही मानव के सर्वांग विकास में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं, शुभत्व को स्वीकार करते हैं। अतः भिन्न-भिन्न होते हुए भी परस्पर पूरक हैं, और दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

धर्म का विभिन्न विषयों के साथ संबंध स्पष्ट करने के पश्चात सहज ही प्रश्न उठता है कि धर्म के वस्तु-तत्व क्या हैं और इन्हें किस रूप में स्वीकृत किया गया है? यह जानने के लिये वस्तु-तत्व के संदर्भ में चर्चा करना आवश्यक है।

1.6 धर्म में वस्तु–तत्व एवं प्रतीक की अवधारणा :

धर्म मुख्यतः मानव की अंतःप्रेरित भावना है जो परिस्थितियों से विकसित होती है और जिसका आधार प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से मानव से परे की सत्ता में आस्था को माना गया है। धर्म इंद्रियातीत अनुभव

---

313. Radhakrishanan, S., Idealistic View of Life, P. 55-56, 53

है अतः इसके सामान्य व्यवहारबोध के लिये कुछ सर्वस्वीकृत वस्तु-तत्वों को एवं प्रतीकों को मानने की अवधारणा विकसित हुई।

शब्दकोश के अनुसार 'कोई भी चीज जिसके बारे में बातचीत या विचार किया जा सके, चाहे वह वास्तविक हो या काल्पनिक, मानसिक हो या भौतिक' 'वस्तु' कहलाती है।[314] और तत्व[315] शब्द का अर्थ है सार, रहस्य, यथार्थता आदि। इस आधार पर धर्म के संबंध में वस्तु तत्व का अर्थ धर्म में सर्व स्वीकृत मूर्त्त या अमूर्त्त विषय एवं धारणाएं होगा।[316] इन्हें (वस्तु-तत्व) भाषायिक स्वरूप प्रदान कर इनके श्रेष्ठ, उचित या योग्य होने के संबंध में विभिन्न संदर्भों के अंतर्गत वार्तालाप, संभाषण, तर्क आदि किये जा सकते हैं।[317] अतः धर्म के वस्तु-तत्व जैसे ईश्वर, मुक्ति, नियतिवाद, कर्म, स्वर्ग-नरक आदि के संबंध में भिन्न-भिन्न लेखकों ने प्रश्न उठाये हैं, प्राकल्पनाएं, सिद्धांत, व्याख्याएं, परिभाषाएं एवं धारणाएं प्रस्तुत की हैं।'[318]

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्म के वस्तु-तत्व वे होते हैं जो सत्ता/अस्तित्व/अमूर्त्त को अर्थपूर्णता प्रदान करते हैं[319] और समाज को सक्रिय, चेतन[320] आयाम प्रदान करते हैं।[321] इन वस्तु-तत्वों को समाज/समुदाय की विकासोन्मुख स्थिति, बौद्धिक वर्ग एवं जन सामान्य की स्थिति, नये मूल्यपरक दृष्टिकोण आदि को ध्यान में रखते हुए शक्तिशाली, अपूर्व बुद्धिमान व्यक्ति पुराने के स्थान पर नवीन धर्मतत्वों की स्थापना कर सकते हैं या उन्हें रूपांतरित कर सकते हैं।[322] अतः धर्म के वस्तु-

---

314. दर्शन परिभाषा कोश, पृ. 142

315. संस्कृत हिन्दी कोश, आप्टे वामन शिव, पृ. 909; संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृ. 420

316. दर्शन परिभाषा कोश, पृ. 142; Devaraja, N.K., Hinduism and Christianity P. 1

317. Ibid; P. 11

318. 'Not only that, thoughtful peoples the world over are found constantly engaged in debating the relative merits of such gestalts belonging to different contexts or universes of discourse. Examples of such debatess are legion : questions and discussion regarding the relatives merits of different authors and works; hypotheses, theories and interpretations: definations and conceptions of such entities as God, Salvation, original Sin, Predestination, Karma Heaven Hell etc.' -Ibid, P. 11

319. Bose, K.S., A theory of Religious Thought. P. 2

320. Ibid, P. 5

321. Ibid, P. 8

322. After the criteria of evaluation have been formulated in a particular age of community, they tend to be used in a mechanical spirit by a section of the intelligentsia and the common people, who now claim finality for those criteria and sulk to silence in their name the claim of the new value perceptions often the work of modifing or replacing old criteria can be accomplished only, by a powerful genius.' -Devaraja, N.K., Hinduism and Christianity, P. 12

तत्वों का निर्धारण देशकाल, परिस्थितियों के आधार पर अथवा युगानुरूप दृष्टिकोण के आधार पर किया जा सकता है। धर्म के वस्तु-तत्व व्यक्ति की अपूर्व कल्पनाशक्ति के द्योतक होते हैं। इनके द्वारा अमूर्त को मूर्त रूप में व्याख्यायित कर समझने का व्यावहारिक यत्न किया जाता है।

धर्म में वस्तु-तत्व प्रतीक के रूप में होते हैं। ऋग्वेद में प्रतीक शब्द का प्रयोग अवयव के अर्थ में किया गया है।[323] उपनिषद् में प्रतीक शब्द का प्रयोग मुख के लिये करते हुए कहा गया है कि 'जो अन्न के अक्षय भाव को जानता है, वह मुख रूप से प्रतीक के द्वारा इसका भक्षण करता है।'[324] इससे स्पष्ट होता है कि प्रतीक-प्रयोग प्राचीनकाल में अवयव, मुख, अंग आदि विभिन्न अर्थों में किये जाते रहें हैं।

शब्दकोष के अनुसार सामान्यतः प्रतीक वे होते हैं 'जो किसी भौतिक एवं अभौतिक वस्तु का प्रतिनिधित्व करते है', ये संकेत, चिह्न, लक्षण (स्वभाव), चरित्र आदि अर्थ को भी समाहित करते हैं।[325] 'ये वे कृत्रिम चिह्न या संकेत हैं जो किसी वस्तु-विचार या कल्पना को व्यक्त करते हैं।'[326] ये मानव मन का ही आविष्कार हैं, तथा चेतन-अचेतन दोनो मनः अवस्थाओं द्वारा प्रयुक्त किये जाते हैं।[327] अतः इन्हें (प्रतीक) केवल मानस प्रत्यक्ष तथा कल्पना में आने वाले विचारों, भावों और अनुभूतियों के गोचर संकेत अथवा चिह्न है' के रूप में भी परिभाषित किया गया है।[328] भारतीय चिंतकों के अनुसार प्रतीक' का अर्थ

---

323. प्र ब्रह्मैतु सदनादृतस्य वि रश्मिभिः ससृजे सूर्यो गाः।
वि सानुना पृथ्वी सस्त्र उर्वी पृथु प्रतीके मध्येधे अग्निः।।' ऋग., 7/36/1
तथाग्निः पृथु विस्तीर्ण प्रतीकं पृथिव्या अवयवं देवयजन लक्षणम् स्थानम्। -ऋग; सायण भाष्य

324. 'या वैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन।' -बृह. उप., 1/5/1

325. Symbol 'Something used for or regarded as representing something else a material or immaterial, Token or Sign, Character or Marks.' -The Random House Dictionary of English. college edi., P. 1331

326. मानविकी पारिभाषिक कोष, दर्शन खंड पृ. 188

327. वही, पृ. 188-189

328. 'A Symbol is a visible or audible sign or emblem of some thought emotional or experience interpreting what can be readily grasped only by the mind and imagination by something which enters in the field of observation.' -Encyclopaedia of Religion and Ethics. Tillich, Paul, 'The meaning and Justification of religious symbols.' Religious-Experience and Truth, P. 3

है 'ओर आना या समीप पहुंचना।'[329] ये मनुष्य को अपने साधना मार्ग अथवा सद्‌गुणों के विकास में अगले सोपान (सीढ़ी) तक ले जाते हैं। इनके आधार पर मनुष्य अपने ध्येय की ओर बढ़ता है किंतु वे प्रतीक सीढ़ियां उच्चतर तत्व की प्राप्ति के लिये सहायक साधन मात्र हैं स्वयं लक्ष्य या उच्चतर तत्व नहीं है।[330] इनका प्रयोग हम मूल वस्तु को समझने के लिये करते हैं। ये सदा ही अनुभव या अवबोध से भिन्न होते हैं।[331] पॉल तिलिख व्यवस्थित रूप से प्रतीक के निम्नलिखित लक्षण स्पष्ट करते हैं।[332]

(1) प्रतीक और चिह्न दोनों अपने से पृथक किसी अन्य वस्तु की ओर संकेत करते हैं। ये एक दूसरे से भिन्न होते हैं, किंतु कई बार इनमें अंतर न कर पाने के कारण इन्हें एक मान लिया जाता है।

---

329. विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, नवम् खं., पृ. 41

330. वही, पृ. 41-42; राधाकृष्णन् प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ. 347

331. वही, पृ. 36-37; वही, पृ. 95

332. Tillich, Paul, Religious Experience and Truth P. 302, 5, 6; Abrenathy, George L. and Langford, Thomas A. (Edi.) Philosophy of Religion, P. 382-383

(1) 'Symbols have one characteristic in common with signs; they point beyond themselves to something else..... Sometimes such signs are called symbols; but this is unfortunate because it makes the distinction between sign and symbols more difficult.....'Decisive is the fact that signs donot participate in the reality of that to which they point while symbols do. Therefore, signs can be replaced for reasons of expediency or convention, while symbols can not.' -Comparision - 'A sign indicates while a symbol represents.' - Macgregor, Introduction to Religious Philosophy, P. 323.

(2) 'It participates in that to which it points : the flag..... Therefore, it cannot be replaced except after an historic catastrophe that changes the reality of the nation which it symbolizes.'

(3-4) 'It opens up levels of reality which otherwise are colsed for us..... not only opens up dimensions and elements of reality which otherwise would remain unapproachable but also unlocks dimension and elements of our soul which correspond to the dimensions and elements of reality..... but it opens up hidden depths of our own being.'

(5-6) 'They grow out the individual or collective unconscious and cannot function without being accepted by the unconsious dimension of our being. Symbols which have an especial social function, as political and religious symbols are created or at least accepted by the collective unconsious or the group in which they appear.

'Symbol is a consequence of the fact that symbols cannot be invented, like living beings, they grow and they die. They grow when the situation is ripe for them and they die when the situation changes.'

एक चिह्न के स्थान पर दूसरे चिह्न को स्वेच्छानुसार प्रयोग किया जा सकता है किंतु किसी एक प्रतीक के स्थान पर अन्य प्रतीक का स्वेच्छापूर्वक प्रयोग अथवा उसकी रचना नहीं की जा सकती। प्रतीक में अपनी विशेष शक्ति अंतर्निहित होती है।

(2) प्रतीक वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हुए प्रतीक्य की ओर संकेत करते हैं, उसमें सहभागी होते हैं किंतु कभी भी प्रतीक्य का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते हैं। जैसे - राष्ट्रध्वज (प्रतिनिधि) राष्ट्र की शक्ति, गौरव, मर्यादा, सम्मान में सहभागी होता हैं, किंतु यह सम्मान ध्वजरूपी प्रतिनिधि का नहीं वरन् उसका होता है जिसका कि वह प्रतिनिधित्व करता है।

(3) इनकी सहायता से वह अदृश्य, अनुभवातीत सत्ता भी इनके सत्स्वरूप संकेत के कारण बोधगम्य हो जाती है जिसे अन्य इंद्रियानुभविक प्रकारों से नहीं जाना जा सकता है।

(4) प्रतीक की सार्थकता समाज द्वारा उनकी स्वीकृति पर निर्भर होती है। प्रतीक बनने तथा प्रतीक के रूप में समाज द्वारा स्वीकार किये जाने की प्रक्रिया साथ ही साथ होती है। यद्यपि प्रतीक सर्वप्रथम किसी के मन में उत्पन्न होते हैं और अचेतन पर निर्भर हैं फिर भी इसकी रचना व ग्राह्य सामाजिक क्रिया का परिणाम है, कल्पित या मनगढंत नहीं।

(5) प्रतीकों में संगठनात्मक तथा विघटनात्मक दोनों शक्तियां विद्यमान रहती हैं।[333] पॉल तिलिख के अनुसार ऊपर लिखित सामान्य प्रतीकों की विशेषताएं (लक्षण) धार्मिक प्रतीकों में भी पायी जाती हैं। इस दृष्टि से सामान्य प्रतीकों तथा धार्मिक प्रतीकों में पर्याप्त समानता है। परंतु इस समानता के होते हुए भी धार्मिक प्रतीक सामान्य प्रतीकों से भिन्न होते हैं।

प्रत्येक धार्मिक प्रतीक का प्रयोजन उसकी ओर संकेत करना है जो सीमातीत है।[334] ये ऐसे विषय को अभिव्यक्त करते हैं जो आस्था का विषय है तथा स्वरूपतः विश्व की उन वस्तुओं से परे हैं जिन्हें ज्ञान का विषय बनाया जा सकता है।[335] ऐसे विषय यथा-परमसत्ता जो कि निरूपाधिक इंद्रियातीत सत्ता' है- को धार्मिक प्रतीकों के अभाव में नहीं जाना जा सकता है।[336] जबकि सामान्य प्रतीक जिन वस्तुओं की ओर संकेत करते हैं उन्हें प्रतीकों की सहायता लिये बिना भी जाना जा सकता है। 'परम सत्ता' अनुभवातीत और अज्ञेय है (इंद्रियगम्य नहीं है) अतः इस परमसत्ता के संबंध में कुछ कहने के लिये विभिन्न प्रतीकों की सहायता लेनी पड़ती है। इन प्रतीकों के माध्यम से मनुष्य परमसत्ता के प्रति अपनी भावनाओं

---

333. -Tellich, Paul, Religious Experience and Truths, Ibid, P. 6

334. Tillich, Paul, 'The Religious Symbol', P. 6

335. Ibid, P. 303

336. Ibid, P. 317

तथा अभिवृत्तियों को व्यक्त कर सकता है। इन धर्म प्रतीकों के द्वारा परमसत्ता का ज्ञान (बौद्धिक) तो नहीं हो सकता, किंतु इनके (प्रतीक) द्वारा अगम्य परमसत्ता (अंतिम सत्ता) का सांकेतिक, अप्रत्यक्ष आभास अवश्य हो सकता है। प्रतीक इसी सत्स्वरूप (Being itself) के प्रति अंतिम संलग्नता (ultimate concern) क्रो व्यक्त करते हैं। ये हमारे कार्यों को दैवत्व से संबद्ध करते हैं।[337]

धार्मिक प्रतीकों का क्षेत्र विस्तृत है। ईश्वर, देवता, इष्ट, धर्मगुरू, प्रतिमा, शब्द, सिद्धांत, देवकथा, पवित्र वस्तुएं, सृष्टि, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, पूजा आदि सभी धर्म में, प्रतीक रूप में व्यवहार्य हैं। गौतम बुद्ध, ईसामसीह आदि ऐतिहासिक पुरूष ही नहीं वरन् धर्म प्रतीक भी हैं। प्रतीक सभी अनुभवात्मक जगत में सत्यस्वरूप की ओर संकेत करते हैं[338] जो कि इंद्रियातीत है। लक्ष्य प्राप्ति होने पर इनका (प्रतीकों) कोई प्रयोजन नहीं है।[339]

अतः कहा जा सकता है कि धर्म में जो वस्तु-तत्व स्वीकार्य किये जाते हैं वे प्रतीक रूप होते हैं। चाहे वे धार्मिक उपादान (ईश्वर, आत्मा, अवतार, ईश्वर के अंश से उत्पन्न मानव, क्रॉस, शंख, चक्र, धर्म पुस्तकें आदि) हों या धार्मिक कृत्य-चर्च, मंदिर जाना, उपासना करना, नमाज़ या प्रार्थना करना, यज्ञ करना आदि। ये किसी न किसी रूप में सभी धर्मों में प्रचलित होते हैं तथा मानव आस्थाओं के परिचायक होते हैं।

सारतः धर्म का मूल अर्थ धारण करना है। यह धारणात्मक तत्व के रूप में उन सत्यों, नियमों, आचरणों की संज्ञा है जिनसे यह सृष्टि-प्रक्रिया गतिशील है। देश-काल एवं परिवेश के साथ इनके अर्थ प्रचलित होते रहते हैं। अतः धारण के संबंध में कई धारणाएं रही हैं। इन धारणाओं के अंतर्गत व्यक्ति के संपूर्ण जीवन के सहज विकास पर बल देते हुए श्रेष्ठ समाज निर्माण व एकता के लिये भौतिक, मानसिक आध्यात्मिक शक्तियों के संतुलन व समन्वयकारी तत्वों को धारण करना माना है।

धर्म शब्द का अर्थ, रिलिजन की तुलना में व्यापक एवं विस्तृत है। धर्म अपने में ईश्वरवादी एवं अनीश्वरवादी या आत्मवादी और अनात्मवादी सभी धर्मों को अंतर्भूत करता है जबकि रिलिजन मूलतः दैवीय सत्ता की प्रकाशना, चमत्कार आदि की विश्वासपूर्णता से संबद्ध है। परंतु पवित्रता संयमपूर्ण जीवन, नैतिकता, विश्वास, प्रेम, उपासना, स्वर्ग-नरक आदि कतिपय समरूपताओं के होने से अर्थ सानिध्य पाया जाता है। अतः विद्वान प्रायः इन्हें एक मानते हुए चर्चा करते हैं।

---

337. 'Acceptance of symbols that express our ultimate concern in term of divine action.' -G.L. Abernathy and T.A. Langford, 'Paul Tillich', Philosophy of Religion, P. 386

338. Tillich, Paul, 'The Religious Symbol,' Religious Experience and Truth, P. 317; विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, नवम खंड, पृ. 42-60

339. विवेकानंद वही, 336, क. पृ. 42, 50-55

धर्म को बहुआयामी एवं व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए इसकी कई परिभाषाएं उपलब्ध होती हैं। उपलब्ध परिभाषाओं में से वही परिभाषा सर्वमान्य हो सकती है जो ज्ञान, भाव एवं क्रिया का समावेश करती हो। इस दृष्टि से प्राचीन परंपरागत परिभाषा कि–वह वस्तु जो संपूर्ण विश्व को धारण कर रही है एवं समाज की एकता को मूर्तिमंत करती है[340] और धर्म वह तत्व/पदार्थ है जिससे सांसारिक जीवन में अभ्युदय और जीवन के परम लक्ष्य निःश्रेयस-दोनों की सिद्धि होती है[341] को सर्वमान्य परिभाषा के रूप में माना जा सकता है। कारण कि ये परिभाषाएं मानव जीवन के सभी पक्षों पर बल देती हैं। इनमें व्यक्ति व समाज के समग्र कल्याण की भावना को स्वीकार करते हुए मानव व्यवहार में उनकी सिद्धि को माना है।

भारतीय समकालीन चिंतक डा. राधाकृष्णन की परिभाषा 'जिन सिद्धांतों का हमें अपने दैनिक जीवन में और सामाजिक संबंधों में पालन करना है, वे उस वस्तु द्वारा नियत किये गये हैं जिसे धर्म कहा जाता है। यह सत्य का जीवन में मूर्त्त रूप है और हमारी प्रकृति को नये रूप में ढालने की शक्ति है[342] इसी प्रकार स्वामी सत्यभक्त द्वार दी गयी परिभाषा-मनुष्य के उस आचार-विचार को धर्म कहते हैं जिसके द्वारा मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण होता है, सुख बढ़ता है एवं व्यवस्था पैदा होती है[343] धर्म का कार्य जीवन शुद्धि के नियम या विधि-विधान बनाना है,[344] को भी अपेक्षाकृत सर्वमान्य परिभाषा कहा जा सकता है।

पाश्चात्य चिंतक गैल्वे की परिभाषा-अपने से परे शक्ति में मनुष्य का वह विश्वास धर्म है जिसके द्वारा वह अपनी संवेगात्मक आवश्यकताओं की संतुष्टि और जीवन की स्थिरता प्राप्त करता है तथा जिसे वह उपासना एवं सेवा के माध्यम से प्रकट करता है[345], भी महत्वपूर्ण व मान्य परिभाषा है।

धर्म व्यक्ति को एक नैतिक समुदाय के रूप में संयुक्त करता है। मानव जीवन को गरिमा प्रदान कर उसे सुकृत की ओर प्रेरित करता है। यह अखंडता और पूर्णता का भाव दृढ़ कर स्व-पर कल्याण का भाव उत्पन्न करता है, जीवन में आशा का संचार करता है।

धर्म, दर्शन, विज्ञान, धर्मदर्शन, नैतिकता आदि से भिन्न होते हुए भी घनिष्ट रूप से संबद्ध है। मानव के समग्र विकास में इनका परस्पर पूरक/समन्वयपरक योगदान आवश्यक है।

---

340. महाभा., कर्णपर्व, 49-50

341. वैशे. सू., 1/1/1-2

342. राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली, धर्म और समाज, पृ. 120

343. सत्यभक्त, स्वामी, सत्यामृत-दृष्टिकाण्ड, पृ. 135

344. वही, पृ. 148

345. Gallowey. George. The Philosophy of Religion, P. 181

धर्म के वस्तु तत्व के रूप में वे सर्वस्वीकृत यथार्थ और मानसिक पदार्थ होते हैं जिनका अस्तित्व मूर्त या अमूर्त चेतना/आत्मा, स्वर्ग-नरक, आदि को माना जा सकता है। ये विविध प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। जैसे-धर्म सिद्धांत, धर्म स्थान, धर्मग्रंथ, पूजा, धर्मगुरू आदि। अतः अगले अध्यायों में आवश्यकतानुसार धर्म तत्वों पर चर्चा करेंगे।

द्वितीय सोपान

धर्म समभाव की अवधारणा

2.1 धर्म समभाव का अर्थ एवं परिभाषा :

धर्म समभाव शब्द तीन पदों से बना है प्रथम पद है धर्म द्वितीय सम और तृतीय है भाव। शब्दकोष में हमें धर्म समभाव की संपूर्ण परिभाषा उपलब्ध नहीं होती है। अतः हम पदों के अर्थ निरूपित करते हुए इनके योग के आधार पर एवं विचारकों के दृष्टिकोण के आधार पर इसके (धर्म समभाव) प्रत्यय को समझने का यत्न करेंगे।

धर्म, सम एवं भाव तीनों ही पद संस्कृत तथा हिंदी भाषीय शब्द हैं। पूर्व में हम धर्म को 'धृ' धातु से उत्पन्न मानते हुए सदाचार, सत्कर्म, आध्यात्मिक, नैतिक एवं चरम सत्य की वह अनुभूति जो समस्त प्राणियों में चेतनात्मक एकता के भाव जागृत करती है-के अर्थ में परिभाषित कर चुके हैं।

शब्दकोष के अनुसार सम[1] का अर्थ समान, तुल्य, बराबर, वैसा ही समरूप आदि है तथा भाव[2] का अर्थ होना, भावना, विचार, विश्वास, आदर, प्रतिष्ठा आदि है। नालंदा शब्दसागर में समभाव[3] का अर्थ समानता, तुल्यता आदि ही किया गया है। समानता अथवा तुल्यता का अर्थ राग-द्वेष से परे अथवा निष्पक्षतापूर्वक समान विचार है।[3] इस आधार पर समभाव का अर्थ राग-द्वेष से परे, निष्पक्ष, तुलनात्मक समान आदर विचार अथवा भावना के रूप में किया जा सकता है। अतः शब्दकोष के आधार पर धर्म समभाव का अर्थ धर्म के प्रति निष्पक्ष, तुलनात्मक समान आदर भाव रखना और 'सर्व धर्म समभाव' का अर्थ सब धर्मों (सर्वधर्म) के प्रति निष्पक्ष तुलनात्मक समान (राग-द्वेष से परे) आदर भाव (समभाव) रखना माना जा सकता है।

---

1. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, प्रथम संस्करण, पृ. 611; नालंदा विशाल शब्द सागर कोष पृ. 1405; सक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर कोष, पृ. 976
2. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर कोष, पृ. 769
3. नालंदा विशाल शब्द सागर कोष, पृ. 1405

गीता में समभाव अथवा धर्म समभाव शब्द का तो नहीं किंतु सर्वत्र सम दर्शन[4], समत्व योग, समता, समवस्थित आदि का उल्लेख मिलता है[5] जिसके अंतर्गत संपूर्ण भूतों में या सबमें सादृश्य देखने वाले को परम श्रेष्ठ (योगयुक्त आत्मा) माना गया है। समस्त भूतों[6] के प्रति चेतनात्मक एकता या सादृश्य (समानता) की स्वीकृति, सभी के प्रति एक प्रकार से राग-द्वेष से परे समदृष्टि को स्वीकार करना है जो समभाव के समकक्ष मानी जा सकती है।

जैनागमों में समभाव संबंधी अनेक सूत्र मिलते हैं। जैसे-आर्यपुरूषों द्वारा समभाव धर्म कहा गया है।[7] संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि[8] को महत्व देते हुए कहा गया है कि 'समस्त प्राणियों को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है वह पाप-कर्म का बंध नहीं करता।'[9] जो समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखता है वही श्रमण है,[10] इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि साधक न जीने की अकांक्षा करे और न मरने की कामना करें, वह जीवन और मरण दोनों में किसी तरह की आसक्ति न रखे, समभाव से रहे।[11] इस प्रकार जैन आगमों में जगत के प्राणियों के प्रति आत्मवत् व्यवहार तथा अनासक्त भाव के व्यवहार को समभाव के रूप में निरूपित किया गया है।

बौद्ध आगमों में साधना के अष्टांगिक मार्ग के प्रत्येक साधना पक्ष का 'सम्मा' होना माना गया है। यह 'सम्मा' शब्द सम और सम्यक दोनों अर्थों की अवधारण करता है। बौद्ध अष्टांग मार्ग व्यापक अर्थ में राग-द्वेष एवं मोह को आर्य उपशम[12] मानता है। वह जगत के सभी प्राणियों को अपने समान ही समझ कर आचरण करने का निर्देश देता है।[13] महात्मा बुद्ध ने कहा है कि जिन्होंने धर्मों को ठीक प्रकार से जान लिया है, जो किसी मत, पक्ष या वाद में नहीं हैं, वे संबुद्ध है, समद्रष्टा हैं और विषम स्थिति में

---

4. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
   ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः 11- गीता, 6/29
5. वही, 2/48, 5/18, 10/5, 13/27-28
6. वही, 6/29, 13/27
7. आचा. सू., 1/8/3/2
8. अनुयोगद्वार सूत्र, 129
9. दशवै. 4/9
10. प्रश्नव्या, सू. 2/4
11. आचा. सू., 1/8/8/4
12. मज्झिमनि, 3/40/2
13. सुत्तनिपात्त, 3/37/7

भी उनका आचरण सम रहता है।[14] इस प्रकार समता का आचरण[15] समद्रष्टा, संबुद्ध आदि शब्दों का प्रयोग भी समभाव के अर्थ के निकट ही है।

स्वामी विवेकानंद विभिन्न धर्मों की अभिव्यक्ति में मूलतः एक ही तत्व को मानते हुए सर्व समभाव[16] को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार संसार के सभी मतों में एक सर्वनिष्ठ भाव दिखाई देता है चाहे उसे जानते हो या न जानते हों।[17] वे जानने के लिए (ईश्वर दर्शन और मैं सर्वमय हूं) संकीर्ण धारणाओं का त्याग करना आवश्यक मानते हैं और कहते हैं कि 'बिना सोचे समझे विश्वास करना तो आत्मा का पतन है। तुम नास्तिक भले ही हो जाओ, परंतु बिना सोचे समझे किसी चीज में विश्वास न करो। तुम क्यों अपनी आत्मा को पशुओं के स्तर में ले जाओ? ऐसा करके तुम केवल अपने को ही हानि नहीं पहुंचाते बल्कि समाज तथा आने वाली पीढ़ी को भी। तनकर खड़े हों, अंधविश्वास छोड़कर तर्क करो, धर्म विश्वास की वस्तु नहीं बल्कि होने और बनाने की वस्तु है।'[18] जो लोग धर्म के क्षेत्र में बौद्धिक अन्वेषण की उपयोगिता मानने को प्रस्तुत नहीं हैं, वे मुझे कुछ स्वविरोधी प्रतीत होते हैं।[19] 'मैं वेदों से उतना ही ग्रहण करता हूं, जितना बुद्धि सम्मत है'।[20] धर्म का प्रमाण किसी ग्रंथ पर नहीं, मनुष्य की रचना की सत्यता पर निर्भर करता है[21] अतः समभाव के लिये धार्मिकता की परख करनी चाहिये।[22]

स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानंद धर्म समभाव में अन्य धर्मों के प्रति एक सर्वनिष्ठ भाव के साथ-साथ बौद्धिक अन्वेषण एवं तर्क को भी स्वीकार करते हैं। समभाव के लिये सत्यासत्य का विवेक अथवा परख आवश्यक मानते हैं जो तुलना व विश्लेषण के द्वारा होता है।

---

14. संयुक्तनि, 1/1/8, 1/2/6
15. धम्मपद, 26/388
16. विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, द्वी. खं. पृ. 283
17. वही, पृ. 181
18. वही, पृ. 275
19. वही, पृ. 278
20. वही, पृ. 259
21. वही, पृ. 279
22. वही, पृ. 235

महात्मा गांधी सब धर्मों के प्रति आदरभाव[23] को स्वीकार करते हैं, इसलिये कि वे मूलतः एक है।[24] अतः उनकी इस विचारधारा को समभाव माना गया है[25] क्योंकि सामान्यतः धर्म समभाव का अर्थ-सभी धर्मों का आदर[26] स्वीकार किया गया है। किंतु सब धर्मों का आदर करना मात्र ही धर्म समभाव नहीं माना जा सकता है। धर्म समभाव में राग द्वेष से परे, निष्पक्ष (तुलनात्मक) आदरभाव का अर्थबोध अंतर्निहित है।

महात्मा गांधी अन्य धर्मों के आदर के लिये उनका (धर्मों का) सद्भावपूर्वक अध्ययन करना आवश्यक मानते हैं।[27] वे धर्म में विश्वास करने का समर्थन करते हैं एवं अंधविचार का निषेध करते हैं।[28] उनके अनुसार सभी धर्म ईश्वर की ओर अग्रसर होते हैं पर मानव द्वारा अभिव्यक्त होने से वे सदोष (अपूर्ण) भी है।[29] उनके अनुसार सभी धर्म सत्य हैं और उनमें कुछ कमियां (त्रुटियां) हैं अतः अन्य धर्म

23-24 'All great religions are fundamentally equal. We must have the innate respect for other religions as we have for our own..... equal respect. Gandhi, Harijan, Nov. 28, 1936

'I regard all the great religions of the world as true at any rate for the people professing them as mine is true for me.' Ibid, Sept. 28, 1935 And Dec. 19, 1936

'I do believe in harmony between all religions.' Ibid, Feb. 2, 1934

25. गाँधी, धर्मनीति, मंगल प्रभात, पृ. 38; 'The Idea of religious tolerance (Sambhava) which Gandhi so firmly cherished seems to have been impressed upon him by the general Hindu attitude of tolerance towards others religions.....' -Tiwari K.N., World Religions and Gandhi, Introduction, P. 7

26. 'Sarva Dharma Sambhava-'Respect to all Religions'-Klyuev, Boris, Religion in Indian Society, P. 156

गौतम, सत्यपाल, 'भारतीय संदर्भ में धर्म निरपेक्षता का आदर्श', परामर्श, सितंबर (1990), पृ. 260

27. 'If we are to respect others religions as we would have them to respect our own, a friendly study of the world's religions is a sacred duty.....' Gandhi, Young India, Sept. 2, 1936

28. 'Does not faithfulness to one's religion presuppose blindness to the shortcomings to that religion. Indeed faithfulness not blind adherence..... only my purpose is they need not be exclusive. My approach to other religions therefore is never as a fault-finding critic but as a devotee hoping to find the like beauties in the others religions and wishing to incorporate in my own the good. I may find in them and miss in mine-Ibid, Harijan, Aug. 12, 1933

In reading these texts (all Religious). I can say that I was equiminded towards all these faiths, althouth perhaps I was not then conscious of it.... I do not find I ever had the slightest desire to criticise any of those religions because they were not my own-Ibid, Yervada Mandir, March 6, 1932 and other places.

29. 'All proceed from the same God but all are imperfect because they have come down to us through imperfect human instrumentality-Ibid, Young India, May 29, 1924

के विश्वास को भी अपने धर्म के विश्वास की भांति ही मानना चाहिये।[30] अन्य धर्मों में दोष निकालकर आलोचना नहीं करनी चाहिये वरन् समर्पित भाव से उनके गुणों की प्रशंसा करनी चाहिये।[31] वे तर्क देते हैं कि यदि मानव निर्मित सभी धर्म अपूर्ण हैं तो तुलनात्मक रूप से किसी एक धर्म के सर्वश्रेष्ठ होने का प्रश्न ही नहीं उठता।[32] सभी धर्मों के समादर से महात्मा गांधी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि दूसरे धर्मों के गुणों को अपने धर्म में मिलाना हर व्यक्ति का कर्त्तव्य है।[33]

महात्मा गांधी के इन विचारों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि वे धर्म समभाव का अर्थ अन्य धर्मों के प्रति आदरभाव रखना मानते हैं। वे धर्मों में गुण और दोषों को स्वीकार तो करते हैं किंतु यह स्पष्ट नहीं करते हैं कि अच्छाइयों एवं बुराइयों का या गुण-दोषों का निर्णय कैसे किया जाए? उनकी मान्यता के अनुसार तो धर्मों में तुलना व विश्लेषण नहीं किया जाना चाहिये। जबकि सत्य ज्ञान के निर्णय का आधार केवल संश्लेषण (अनुभव) ही नहीं होता है वरन् विश्लेषण (बुद्धि, समीक्षा, तुलना आदि) भी होता है जिससे ज्ञान का आकलन होता है।[34] उसकी सत्यता का निर्धारण होता है, गुण और दोषों का बोध या निर्णय होता है।

वस्तुतः गांधी ने इतना भर बतलाया था कि सर्वधर्म समादर का अर्थ दूसरे धर्मों की बुराइयों का, अधर्मों का आदर नहीं है।[35] जब गांधी धर्मों में सत्यता अथवा ज्ञान की बात करते हैं तो केवल संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपनाते हैं। 'विश्लेषणात्मक अथवा तुलनात्मक दृष्टिकोण को उनके द्वारा वहां स्पष्ट रूप से स्वीकार ही नहीं किया गया है।' जबकि पूर्ण ज्ञान (ज्ञानात्मक वृत्ति) में संश्लेषण और विश्लेषण दोनों की अनिवार्यता होती है।[36] महात्मा गांधी सभी धर्मों में आपस में समन्वय करना चाहते

---

30. 'After long study and experience I have come to these conclusions that: (1) All religions are true, (2) all religions have some error in them, (3) all religions are almost as dear to me as my own Hiduism. My veneration for others faiths is the same as for my own faith'-Gandhi M.K., Fellowship of faith and unity of Religions, Edi. Prof. Abdul Majid Khan, New Delhi (1990), P. 12 (Gandhiji's Massage to Federation or International Fellowships. Jan. 1928), 31, Ibid, P. 13-14
31. Ibid, P. 9, 13-14
32. Narayan, Shriman, (Ed.), The Selected Work's of Mahatama Gandhi, Vol. VI, P. 241
33. गांधी, मो.क., धर्म नीति, मंगल प्रभात, पृ. 40
33. वही, 241
34. भावे, विनोबा, सप्त-शक्तियां, पृ. 36
35. सिंह, दशरथ, गांधीवाद को विनोबा की देन, पृ. 275
36. वही, पृ. 108

थे।[37] 'वे सौम्यबुद्धि और अंतर्बोध से विरोध रखने वाले धर्म ग्रंथों की प्रामाणिकता को अस्वीकार करने की बात कहते है',[38] विचार शक्ति में विश्वास करने की बात कहते हैं किंतु फिर भी वे धर्म में समीक्षा को स्वीकार नहीं करते हैं। इस प्रकार धर्मों में तुलना, विश्लेषण अथवा समीक्षा को स्वीकार न करने के कारण उनके विचारों को स्पष्ट रूप में धर्म समभाव के अंतर्गत 'धर्म समादर' अथवा 'धर्म समन्वय' का विचार कहना उचित प्रतीत होता है। पूर्ण 'धर्म समभाव' में 'धर्म समादर' के साथ-साथ निष्पक्ष तुलना का विचार भी समाहित होता है।

यहां इस संदर्भ में गांधी-विचार के साथ-साथ समसामयिक सर्वोदयी चिंतक विनोबा भावे के समभाव के विचारों के संबंध में चिंतन करना भी आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि उन्हें गांधीवाद का सच्चा प्रतिनिधि माना जाता है। उन्हें गांधी की आत्मा एवं गांधीवाद के सच्चे भाष्यकार[39] तथा गांधी का नैतिक व आध्यात्मिक[40] उत्तराधिकारी कहा गया है। परंतु वे एक मौलिक चिंतक भी हैं।[41] वे सिद्धांतः महात्मा गांधी के विचारों और धर्म समन्वय की युक्तियों को स्वीकार करते हैं।[42] किंतु वे मानते हैं कि जब धर्म विशुद्ध विचार पर आधारित हो जाता है तो फिर वह व्यक्तिगत न होकर आम बन जाता है। वास्तविक धर्म की स्थापना तब होगी जब व्यक्ति भिन्न-भिन्न धर्मों की उपासनाओं का एक साथ अनुभव करने लगेगा।[43] अब तक कोई धर्म धर्म नहीं बन पाया है। वे लिखते हैं कि धर्म-पंथ दुनियां को तोड़ते जा रहे हैं। ये धर्म-पंथ कालबाह्य (युग बाह्य) हो गये हैं। इसलिये हमें उच्चत्तम समान तत्व ढूंढना होगा। यदि आप सब धर्मों का सार तत्व यानि उच्चत्तम तत्व लेंगे तो आपको केवल 'मानवता' मिलेगी, जो न्यूनतम है। एक न्यूनतम समान गुणक भी निकालना होगा। अलग-अलग धर्मों के आध्यात्मिक पुरूषों के आध्यात्मिक अनुभव को (जो समान होते हैं) इकट्ठा करने पर न्यूनतम समान गुणक विधि-निषेध का नीतिशास्त्र बनेगा। धर्म के बाह्य रूप तोड़ते हैं लेकिन आध्यात्मिक अनुभव जोड़ते हैं। इसलिये अलग-अलग धर्मों के सार-तत्व तक पहुँचने की दृष्टि से धर्मों की मर्यादाओं के परे जाने के लिये, सब धर्मों का उच्चतम समान तत्व है। 'मानवता' और न्यूनतम समान गुणक है आध्यात्मिक अनुभव।[44] किंतु वे इस

37. वही, पृ. 257

38. Gandhi, M.K., Young India, Dec. 18, 1920, P. 3, Sept. 17, 1925, P. 320

39. दिवान प्रभाकर 'गांधी जीवन विषयक तत्वज्ञान के एकमात्र भाष्यकार विनोबाभावे', जमालुद्दीन (संपा.), विनोबा दर्शन पृ. 56

40-41. Tandon, Vishwanath, The Social and Political Philosophy of Sarvodaya after Gandhi, P. 4, 5

42. भावे, विनोबा, विनोबा चिंतन, अंक 30, पृ. 230

43. वही, अंक 16, पृ. 173

44. भावे, विनोबा, विनोबा चिंतन, अंक, 44-45-46, पृ. 392

अनुभव के अंतर्गत धर्मपंथों (संस्थागत धर्म) के गुण और दोषों के निर्णय को समभाव के लिये आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार विवेक के द्वारा सत्य-मिथ्या, धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की पहचान होती है।[45] विनोबा विवेकपूर्ण समन्वय के वितर्क की पद्धति (संश्लेषण एवं विश्लेषण)[46] को स्वीकार करते हैं। इसके आधार पर सत्यतापूर्वक अविरोधितापूर्ण समन्वय किया जा सकता है।[47] वे सत्य ज्ञान के आधार पर धर्मों के समन्वय अथवा धर्म समभाव की व्याख्या करते हैं। वे श्रद्धा के साथ-साथ बौद्धिकता को भी स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार सत्य-शोधन मेधा (विवेक, वितर्क, संश्लेषण व विश्लेषण-अनुभव व बुद्धि) के द्वारा अथवा वितर्क के द्वारा ही संभव है और इसके आधार पर शुचितापूर्वक (पवित्रता) समन्वय किया जाना चाहिये।' समन्वय[48] का अभिप्राय तर्कसंगत विवेकपूर्ण एकता माना जाना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि विनोबा भावे धर्म समभाव का आधार धर्मों के समान तत्व को मानते हैं, किंतु साथ ही उनकी समानता के निर्धारण के लिये तथा निष्पक्ष समन्वय के लिये धर्मों में तुलना व विश्लेषण को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार इसी आधार पर उनके (धर्मों के) गुण और दोषों का निर्णय कर समभाव समन्वय किया जा सकता है एवं संतुलन व सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

डा. राधाकृष्णन के अनुसार 'सभी धर्मों के प्रति सम्मान का भाव सीधे उस परम तत्व के स्वरूप से ही प्रकट होता है। अतः उस परम तत्व के प्रति निष्ठा व श्रद्धा होनी चाहिए।'[49] विभिन्न धर्म परंपराएं एक ही भावना से शासित होती हैं और मनुष्य तथा विश्व दोनों की मुक्ति के लिये कामना करती हैं। सब धर्मों का उद्देश्य ऐहिक उद्धार है।'[50] अतः सच्चे अर्थों में पूर्वाग्रहों और पूर्व धारणाओं से मुक्त होकर ज्ञान का (सब प्रकार के ज्ञान का) ग्रहण करना चाहिये।[51] वे व्यक्तित्व के अनुकूलन के लिये युक्तिसंगत धर्म की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं।[52]

---

45. वही, अंक 28 (1968), पृ. 183

46-47. *वही, 16 मई 1967, पृ. 203

48. सत्यभक्त, स्वामी सत्यामृत-दृष्टिकाण्ड, पृ. 38-51, 139

49. राधाकृष्णन्, रचनात्मक जीवन, पृ. 16

50. वही, पृ. 91

51. वही, पृ. 20, 28 व 36

52. वही, पृ. 36

इसी प्रकार के विचार भगवान दास भी रखते हैं। इनके अनुसार 'सभी धर्मों की प्रार्थनाएं एवं लक्ष्य एक जैसे हैं। अतः विवेकपूर्णता के आधार पर ईमानदारी से धर्मों में एकत्वबोध करना चाहिये।'[53]

अतः यह स्पष्ट होता है कि स्वामी विवेकानंद, राधाकृष्णन और भगवान दास धर्म समभाव की अवधारणा के अंतर्गत यह स्वीकार करते हैं कि सभी धर्मों के सामान्य उद्देश्यों (नैतिक सद्गुण, तात्विक एकता अथवा चेतनागत एकता, आध्यात्मिकता आदि) के आधार पर राग-द्वेष से परे होकर सहिष्णुता पूर्वक सत्यज्ञान के लिये निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिये तथा इसके आधार पर उनमें सामंजस्यपूर्ण समभाव की स्थापना करनी चाहिये।

स्वामी सत्यभक्त अपनी पुस्तक सत्यामृत में धर्म-समभाव का विशद् विवेचन प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि पैगंबर, तीर्थंकर, अवतार, मसीह, ऋषि आदि कहलाने वाले महात्माओं ने, महान विचारकों ने अपने देश-काल के लिये उपयोग कल्याणकारक योजनाएं (धर्म से संबंधित व्यवस्थित विचार-सिद्धांत व आचार सिद्धांत) बनायी और चलायी। वे ही संस्थागत धर्म अथवा धर्मपंथ कहलाने लगे।[54] यदि हम प्रत्येक धर्म की उदारता और विनय के साथ मीमांसा (संश्लेषणात्मक व विश्लेषणात्मक विवेचन) करें और उसमें समयानुसार परिवर्तन (युगानुरूप परिवर्तन) कर लें, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि विश्व के सभी धर्म (संस्थागत धर्म या धर्मपंथ) जिन्हें हम भिन्न-भिन्न धर्म समझते हैं एक ही धर्म के अलग-अलग पहलू हैं। उनमें जो विरोध दिखाई देता है केवल बाह्याचार को ही धर्म मान लेने के कारण तथा समभाव न होने के कारण है।[55] हमने (लोगों ने) धर्म के पालन के लिये देश व काल के आधार पर उत्पन्न आचार-विचार को ही धर्म मान लिया इसलिये धर्मों की विविधता की व विरोध की समस्या उत्पन्न हुई।[56] धर्म के मर्म (सार तत्व) के साथ उनका (संस्थागत धर्मों का) कोई विरोध नहीं है।[57] अतः वे स्पष्टतः कहते हैं कि यदि विशेष नामकरण न किया जाए तो धर्म का स्वरूप एक ही है चाहे उसे सत्य, अहिंसा, प्रेम, सदाचार

---

53. दास, भगवान, सब धर्मों की बुनियादी एकता, पृ. 287
54. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 125 1-II
55. दरबारी लाल (सत्यभक्त), धर्म मीमांसा, पृ. 2-3, 13
56. वही, पृ. 3
57. वही, पृ. 3, 12

6—259 Min. of H.R.D./2005

कहें, किंतु देश-काल के अनुसार उसके व्यावहारिक (आचरणात्मक) रूप अनेक हैं।[58]

इन अनेक प्रचलित रूपों में वर्तमान युग के अनुरूप स्व-पर कल्याणकारी सत्यों का समन्वय कर विरोध के स्थान पर सौहार्द की भावना विकसित की जा सकती है। यदि यह समन्वय निष्पक्षता एवं परीक्षकता[59] के आधार पर किया जाए तो वह धर्म समभाव के लिये महत्वपूर्ण आधार हो जाता है।

वे धर्म समभाव की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि 'जो योजना (व्यवस्थित धर्म विचार सिद्धांत व व्यवहार नियम) जिस देशकाल के अनुरूप है, कल्याणकारक है, वह योजना उस देशकाल के लिये सत्य है, या जितना हिस्सा कल्याणकारक है उतना हिस्सा सत्य है। इस सत्य को ग्रहण करना, कालमोह, स्वत्वमोह छोड़कर इन पर निष्पक्ष विचार करना, इनके विषय में योग्य शिष्टाचार (शिष्ट आचरण-व्यवहार) का पालन करना धर्म समभाव है।'[60] वे धर्म की आलोचना करना अनुचित नहीं मानते हैं सत्यज्ञान के लिये वह भी उनके अनुसार महत्वपूर्ण हैं, किंतु उसमें विनय का उल्लंघन नहीं होना चाहिये। वे (स्वामी सत्यभक्त) लिखते हैं कि हम उनकी (धर्मों की) आलोचना करें परंतु पूर्ण निष्पक्षता के साथ करें, लेकिन उस धर्म का निरादर न करें। अपने धर्म की या संप्रदाय की आलोचना करते समय जितनी भक्ति या भाव हमारे हृदय में रहते हैं, वही भक्ति या भाव हम दूसरे धर्मों की आलोचना करते समय रखें।[61] वे विवेक को पर्याप्त महत्व देते हैं। वे मानते हैं कि धर्म समभाव के होने से योगी (साधक व्यक्ति) जीवन के ध्येय मार्ग में बहुत आगे बढ़ जाता है और अंततः मोक्ष पाने का अधिकारी भी हो जाता है। इस प्रकार इसमें जीवन की पवित्रता और मोक्ष दोनों लक्षण (चिह्न)[62] होते हैं।

किसी भी धर्म को पूर्ण सत्य या पूर्ण असत्य समझना भूल है। किसी भी धर्म का उपयोग करते समय युगबाह्य (जो समयानुसार न हो तत्कालीन देश काल से मेल न खाता हो) अंश निकाल देना चाहिये और युगसत्य (जो तत्कालीन देश काल के विचारों से मेल खाता हो) जोड़ देना चाहिये। इस प्रकार विवेक

---

58. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 125 ॥ तुलना - 'यद्यपि मूलतः सभी धर्म एक ही हैं तो भी विभिन्न देशों की विभिन्न परिस्थितियों के कारण उनके बाह्य रूप (व्यवहार) में भिन्नता आ ही जाती है।' -विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, द्वि, खं. पृ. 235

    'By Religion I do not mean formal religion or customari religion, but that Religion which underlies all religions'-Doke, J.J., M.K. Gandhi, P. 7

    'There are many religions, but Religion is only one' -Gandhi, M.K., Harijan, Feb. 24, 1946

59. सत्यभक्त, वही, पृ. 41 ।।

60. वही, पृ. 125 ।।

61. वही, धर्म मीमांसा, पृ. 44

62. वही, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 92, 110 एवं 125

और आदरपूर्वक उसका उपयोग करना चाहिये।[63] इसके लिये वे (युगबाह्य को निकालने के लिये एवं युगसत्य को जोड़ने के लिये) स्वत्वमोह, कालमोह, प्राचीनता मोह, नवीनता मोह का त्याग कर विवेक से निष्पक्षतापूर्वक उनका प्रमाण से परीक्षण किये जाने को स्वीकार करते हैं।[64] प्रमाण ज्ञान के अंतर्गत पांच प्रकार की कसौटियां मानी गयी हैं-

प्रथम - शास्त्र द्वारा प्रमाण सिद्धि - जिसमें वह विचार किसी दूसरे प्रबल प्रमाण से (शास्त्र के अथवा तर्क के) खंडित न होता हो, देशकाल, परिस्थिति के अनुसार संभव मालूम हो, अहितकर न हो।

द्वितीय - प्रत्यक्षोपम सिद्धि - जिसका स्वयं ने प्रत्यक्ष न किया हो किंतु अन्य बहुतों ने प्रत्यक्ष किया हो और जिसमे संदेह व अप्रमाणिकता की संभावना न हो। ऐसी संभावना होने पर पुनः सभी प्रकार से विचार किया जाना चाहिये।

तृतीय - प्रत्यक्ष द्वारा सिद्धि - इस सामान्य किंतु प्रबल प्रमाण का प्रयोग कर अपर्याप्तता या किसी बाधा का निराकरण करना चाहिये। इसमें सापेक्षतावाद का ध्यान रखा जाना चाहिये।

चतुर्थ - अनुभव द्वारा प्रमाण सिद्धि - कल्पनाओं, स्वप्नों, मिथ्या चमत्कारों व अंधविश्वासों का निषेध करते हुए साधार (आधार युक्त) सत्यबोध करना चाहिये। भावोन्माद को सत्य नहीं माना जाना चाहिये।

पंचम - तर्क प्रमाण सिद्धि - इसका क्षेत्र विशाल मानते हुए सभी प्रकार के तर्क प्रमाण से सिद्ध कर सत्यज्ञान व मिथ्या ज्ञान में अंतर करना चाहिये। युग सत्य और युगबाह्य का निर्णय करना चाहिये। इन सबको विस्तार से सत्यामृत में स्पष्ट किया गया है।[65]

मोहवश या लोभवश समभाव के नाम पर उनके आगे आत्मसमर्पण की आवश्यकता नहीं है, अपितु विवेकपूर्वक (अमूढ़ता से) उनका सत्य विश्लेषण कर गुण-दोष को समझकर उनके प्रति आदर भाव रखना चाहिये।[66] निष्पक्षता एवं विवेक के आधार पर ही वास्तविक सर्वभूत समता (सभी के प्रति समानता का भाव एवं एकात्मता का बोध) तथा विश्वप्रेम की स्थापना सत्य एवं कल्याणकारक होती है।[67]

---

63. वही, पृ. 125 ॥

64. वही, पृ. 28-38

65. वही, पृ. 16-38

66. वही, धर्म समभाव, पृ. 9,

67. वही, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 129 ॥

अतः पूर्ण सत्यान्वेषण में गुण और दोष (दुर्गुण) का संकर (मिश्रण या समन्वय) नहीं किया जाना चाहिये। न ही विषमता के पक्ष को दबाकर केवल गुणों को ही महत्व देना चाहिये वरन् पूर्ण तुलना कर गुण-दोष को समझना चाहिये और उसके आधार पर युगानुरूप मानव कल्याणकारक दृष्टियों को स्वीकार एवं युग विरोधी (जो प्रचलित युग के अनुरूप न हो), अकल्याणकारक, भ्रमात्मक दृष्टियों का परिहार करना चाहिये।[68] इस प्रकार से वे विवेक में निष्पक्षता, परीक्षकता और समन्वयशीलता को मानते हैं।[69] इनके आधार पर वे समस्त प्रकार की मूढ़ताओं का निषेध करते हुए सत्यदर्शन (सत्य दृष्टि) के आधार पर समभाव के अंतर्गत धर्म समभाव[70], जाति समभाव[71], व्यक्ति समभाव[72], अवस्था समभाव (सुख-दुख में शांत)[73], एवं नर-नारी समभाव[74] का व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक रूप स्वीकार करते हैं।

स्वामी सत्यभक्त के अनुसार सभी मनुष्यों में चेतना के आधार पर एकरूपता होती है। जिस कार्य से हमें दुःख होता है उससे दूसरों को भी दुःख होता है। अतः दूसरों का दुःख भी अपने दुःख के समान ही (स्वोपम) समझना चाहिये।[75] विश्व सुखवर्धन के लिये व्यक्ति समभाव आवश्यक है[76] अतः 'सभी प्रकार से मनुष्य जाति की एकता के प्रयत्न करना चाहिये।'[77] वे वर्तमान देश काल में जाति समभाव, व्यक्ति समभाव एवं नर-नारी समभाव के विचार में चेतना के आधार पर उनमें विवेकपूर्ण, न्यायोचित एकत्नाव को व विषमता के भाव को स्पष्ट करते हैं।[78]

अतः यह स्पष्ट होता है कि स्वामी सत्यभक्त समभाव व धर्म समभाव का अर्थ चेतनात्मक स्तर पर सर्वभूत समता, पारिस्थितिकी महत्ता (तत्कालीन युगानुरूप/युगदृष्टि के अनुसार/समयानुसार जो महत्वपूर्ण हो)[79] व विवेक के आधार पर समादर भाव करते हैं। उनके मत में धर्म-समभाव न तो मिथ्या विनय है और न ही मात्र विश्वासपूर्ण श्रद्धाभाव, वरन् उनकी (धर्मों की) युगानुरूप सत्यता के प्रति विवेकपूर्ण एवं सत्यनिष्ठ आदरभाव है, दोषों व युगबाह्य विचारों को दूर कर गुणों का ग्रहण है तथा धार्मिक अहंकार और पक्षपात का त्याग है।[80] अतः इन आधारों पर उनके द्वारा दी गयी धर्म-समभाव की परिभाषा

---

68. वही, पृ. 129 II - 130 I

69. वही, पृ. 111।

70-74 वही, पृ. 125 I; 158 II ; 178 I; 180 II

75. सत्य भक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 178 II 76

76. वही, पृ. 178 I

77. वही, पृ. 178 1-II

78. वही, पृ. 178 II

79. वही, धर्म समभाव, पृ. 36

80. वही, पृ. 74

कि 'जो योजना (वे व्यवस्थित धर्म विचार, सिद्धांत व व्यवहार नियम जो संस्थागत धर्मों में अभिव्यक्त हुए हैं) जिस देश-काल के अनुरूप है, कल्याणकारक है वह योजना उस देश काल के लिये सत्य है, या जितना हिस्सा कल्याणकारक है उतना हिस्सा सत्य है। इस सत्य को ग्रहण करना, कालमोह, स्वत्वमोह छोड़कर इन पर निष्पक्ष विचार करना, इनके विषय में योग्य शिष्टाचार (आदरभाव) का पालन करना धर्म समभाव है।' सभी धर्मों का अपना-अपना महत्व है, उनमें धर्म के मूल स्वरूप के साथ कोई विरोध नहीं है। स्वामी सत्यभक्त के द्वारा धर्म समभाव की दी गयी परिभाषा शब्द कोशीय अर्थ के आधार पर निर्धारित धर्म समभाव के संपूर्ण अर्थ व भाव को अपने में समाहित करती है तथा मानव मन के तीनों पक्षों यथा-ज्ञान, भाव और क्रिया का समन्वय करती है। अतः यह परिभाषा धर्म समभाव की उचित व मान्य परिभाषा मानी जा सकती है।

धर्म समभाव की परिभाषा के संबंध में इस विवेचन से सारतः यह स्पष्ट होता है कि स्वामी विवेकानंद, डा. राधाकृष्णन, स्वामी सत्यभक्त, विनोबा भावे आदि सभी चिंतक धर्म समभाव के अंतर्गत धर्मों के विवेकपूर्ण तुलनात्मक, गुण-दोष के विवेचन को स्वीकार करते हैं और उसी आधार पर धर्म-समभाव की स्थापना को महत्व देते हैं। महात्मा गांधी धर्म के अध्ययन में विवेकपूर्ण संश्लेषणात्मकता को स्वीकार करते हुए धर्मों के प्रति आदर भाव को मानते हैं जो धर्म समभाव का एक रूप है। अतः कहा जा सकता है कि धर्म समभाव सभी प्रचलित स्थापित धर्मों की अंतर्वस्तु की समान श्रेष्ठता के कारण उत्पन्न यह विवेकपूर्ण आदरभाव है जो धर्म विशेष की व्यवहार भिन्नता को महत्व न देकर उनकी अंतर्वस्तु को महत्व देता है। बाह्य धार्मिक विधि-विधानों, व्यवहारों आदि की भिन्नता के कारण किसी एक ही धर्म को सर्वश्रेष्ठ और दूसरे को निम्न न मानने की दृष्टि धर्म समभाव की दृष्टि है। संस्थागत धर्मों में बाह्य धार्मिक विविधों से जो गुण-दोष उत्पन्न हो जाते हैं तो विवेकधारित तुलनात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए मानव कल्याण की दृष्टि से दोषों का परिहार कर गुणों का उपयोग करते हुए सब धर्मों के प्रति धर्म समभाव का व्यवहार करना ही धर्म समभाव अथवा सर्वधर्म समभाव है।

2.2 धर्म समभाव की विशेषताएं एवं उसके आधारतत्व :

पूर्व अध्याय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी भी वस्तु या विचार में तत्व का अर्थ वे सर्व स्वीकृत होने वाली धारणाएं हैं जो किसी भी मूर्त्त या अमूर्त्त वस्तु को अर्थपूर्णता एवं समाज को सक्रिय आयाम प्रदान करती है। इनका निर्धारण/स्थापना किसी अपूर्व बुद्धिमान व्यक्ति के चिंतन के आधार पर होता है/किया जा सकता है। चूंकि 'धर्म समभाव के तत्व' के संबंध में कोई स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है अतः उसकी उपलब्ध विशेषताओं/लाभों के अंतर्गत इनके संबंध में चर्चा करना उपयुक्त होगा।

सामान्यतः समभाव के स्थान पर प्रायः सम्यक् या सम्यकत्व शब्द का प्रयोग प्राचीन स्तर के साहित्य में मिलता है। यह समानता, सत्यता, यथार्थता या औचित्य का परिचायक है। इसका एक अर्थ

तत्व-रुचि भी है[81] जो सत्याभिरुचि या सत्य की अभीप्सा को अपने में समाहित करती है। दर्शन का अर्थ जीवादि पदार्थों के स्वरूप को देखना, श्रद्धा करना, जानना आदि है।[82] किंतु इस जानने को (दर्शन) ज्ञान से अलग करते हुए विचारकों ने इसे अंतर्बोध या प्रज्ञा और ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान कहा है।[83] इस प्रकार सम्यक् दृष्टि या सम्यक् दर्शन के अर्थ तत्व – साक्षात्कार, अंतर्बोध, सम दृष्टिकोण, यथार्थ या सत्य-दृष्टिकोण आदि माने गये हैं। किंतु धर्म के क्षेत्र में इसका मूल अर्थ मिथ्यात्व का निषेध कर सत्यबोध या तत्वबोध करना माना गया है जो कि सत्य दृष्टि के अभाव में संभव नहीं है।

गीता में कहा गया है कि सम्यक् दृष्टि की उपलब्धि ज्ञान, कर्म और भक्ति से होती है। इसलिये जो समत्व दृष्टि रखता है वही ज्ञानी और भक्त है।[84] फिर वह निष्काम कर्म करते हुए समद्रष्टा हो जाता है। उसकी आत्मा तत्वज्ञान एवं आत्मज्ञान से तृप्त हो, अनासक्त एवं संयमी हो जाती है, तथा सब पर समान भाव या श्रद्धा रखती है।[85] व्यक्ति श्रद्धामय है जैसी श्रद्धा (विचार भाव) होती है वैसा ही वह बन जाता है।[86] शांकर गीता-भाष्य में सम्यक् दर्शन के विषय में कहा गया है कि सम्यक् दर्शन-निष्ठ पुरुष संसार के बीजरूप अविद्या आदि दोषों का उन्मूलन नहीं कर सके ऐसा संभव नहीं हो सकता अर्थात् सम्यक् दर्शन युक्त पुरुष निश्चित रूप से निर्वाण लाभ करता है।[87] मनुस्मृति में लिखा है कि सम्यक् दृष्टि से संपन्न व्यक्ति को कर्म का बंधन नहीं होता है, लेकिन सम्यक् दर्शन से विहीन व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता है।[88]

जैन मतीय उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यक् दर्शन के संबंध में कहा गया है कि सम्यक् दर्शन (सम्यक् दृष्टि) के बिना सम्यक् ज्ञान नहीं है और सम्यक् ज्ञान के अभाव में सदाचार नहीं आता और सदाचार के अभाव में कर्मों से मुक्ति (निर्माण) संभव नहीं है।[89] सम्यक् दृष्टि पापाचरण नहीं करती।[90]

---

81. अभिधान राजेंद्र कोश, खं. 5, पृ. 2425
82. (डा.) कालघाटगी, सम प्रॉब्लम्स इन जैन साइकोलॉजी, पृ. 32
83. अभिधान राजेन्द्र कोश, खं. 8, पृ. 2525
84. गीता, 4/22, 8/54
85. गीता, 4/22, 8/54
86. वही, 6/8
87. वही, शां.भा, 18/12
88. मनु., 6/74
89. उत्तरा. सू., 28/30; तुलना अंगुत्तर नि., 10/12
90. आचा. सू., 1/3/2

सम्यक् दर्शन से विचार प्रवाह वीतरागता, निष्काम और अनासक्ति की ओर बढ़ता है तथा पुरुषार्थ परिशुद्ध होता है।[91] इस प्रकार सम्यक् दर्शन परिकल्पना है, ज्ञान प्रयोग विधि है और चरित्र प्रयोग है इन तीनों के संयोग से सत्य का साक्षात्कार होता है। निर्वाण की उपलब्धि होती है।[92] इसकी आधारशिला सम्यक् दर्शन है जिस पर ज्ञान और चरित्र की मेखला स्थिर है।

इस प्रकार प्राचीन पौर्वात्य साहित्य में सम्यक् दर्शन से उत्पन्न एवं समानता के भाव से उत्पन्न चेतनात्मक एकता का विचार, राग-द्वेष से परे – अनासक्त, समभाव विचार, श्रद्धागत् विनय के आधार पर समादर समभाव, एकांतिक मान्यताओं से परे रहकर यथार्थ दृष्टिकोण-शुभ को शुभ के रूप में और अशुभ को अशुभ के रूप में जानने का सत्यबोध अथवा सत्यासत्य विवेक को माना गया है। धर्म के क्षेत्र में इसका मूल अर्थ मिथ्यात्व का निषेध कर सत्यबोध या तत्वबोध करना माना गया है जो कि सत्यदृष्टि के अभाव मे संभव नहीं है। यह संपूर्ण सत्यदृष्टि सम्यक् दर्शन द्वारा सम्यक् बोध करने पर उत्तरोत्तर विकसित होती है। अतः सम्यक् दर्शन को विशुद्धि दर्शन के रूप में स्वीकार करते हुए उसके संवर्धन और संरक्षण के लिये उत्तराध्ययन सूत्र में निम्न अंगों को वर्णित किया गया है।[93] इन्हें एक प्रकार से सम्यक् दर्शन के तत्व की विशेषताएं अथवा उसके आधार-तत्व भी कहा जा सकता है-

(1) सत्यभावना और निर्भयता-प्रणीत तत्व में शंका नहीं करना।

(2) अनाग्रह-एकांतिक मान्यताओं से दूर रहना।

(3) फ़ल के प्रति संदेह न करना व गुणीजनों के शरीर से घृणा (आकार-प्रकार, रंग-रूप) न कर उनके गुणो से प्रेम करना।

(4) अमूढ़ता या ज्ञानात्मक दृष्टि - योग्य और अयोग्य के मध्य निर्णायक क्षमता का होना व तीन प्रकार की मूढ़ताओं का त्याग करना यथा-देवमूढ़ता (अयोग्य को उपास्य बना लेना), लोकमूढ़ता (रूढ़ियों का अंधानुकरण करना), समयमूढ़ता (कालमोह रखना)।

(5) आध्यात्मिक गुणों का विकास करना।

(6) प्रलोभन एवं साधना संबंधी कठिनाइयों से विचलित न होना।

(7) धर्माचरण करने वाले साथियों के प्रति निष्कपट भाव से प्रीति रखना और उनकी यथोचित सेवा-सुश्रुषा करना।

---

91. सूत्रकृ., 1/8/22-23

92. आचा. नि. 244

93. (1) निःशंकित (2) निःकांक्षित (3) निर्विचिकित्सा (4) अमूढ़दृष्टि (5) उपबृंहण (6) स्थिरीकरण (7) वात्सल्य और (8) प्रभावना। - उत्तरा. सू. 28/31

(8) स्वपर कल्याण हेतु अन्य प्राणियों को धर्म मार्ग की ओर आकर्षित करना - इन आठ अंगो (तत्वों) की पालना को आवश्यक माना गया है। समयक् दर्शन के विकास में - प्रज्ञा से धर्म की समीक्षा करनी चाहिये; तर्क से तत्व का विश्लेषण करना चाहिये।[94]

बौद्ध मतीय अंगुत्तर निकाय में सम्यक् दर्शन (सम्यक् दृष्टि) के संबंध में कहा गया है कि मिथ्या दृष्टि से अकुशल धर्मों में वृद्धि होती है, विपुलता होती है तथा सम्यक् दृष्टि से अनुत्पन्न कुशल धर्म उत्पन्न हो जाते हैं। उत्पन्न कुशल धर्म वृद्धि को, विपुलता को प्राप्त हो जाते हैं।[95] मिथ्यात्व ही अशुभाचरण और सम्यक् दृष्टि ही सदाचरण का कारण है। मज्झिम निकाय में सम्यक् दर्शन के अंतर्गत आर्य सत्यों (दुःख, दुःख के कारण, दुःख निरोध संभव, दुःख निरोध के उपाय) के प्रति श्रद्धा को विशेष महत्व दिया गया है किंतु श्रद्धा को प्रज्ञा (अंतदर्शन के आधार पर बुद्धि सम्मत अनुभव व तत्व निष्ठा) से समन्वित किया गया है। सम्यक् दृष्टि का अर्थ सत्यज्ञान पूर्ण विश्वास है। यह विवेक या दूरदर्शिता द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है[96] इसे सदाचरण, निरंतर कर्म, ध्यान, जागरूकता के साथ ही धार्मिक जीवन का अंग माना गया है।[97] विवेकपूर्णता बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति निष्ठा के अर्थ में स्वीकृत की गयी है। कहा भी गया है कि समीक्षा के द्वारा उचित होने पर ही उसे (ज्ञान, धर्म, आचरण) स्वीकार करना चाहिये।[98]

इस प्रकार पौर्वात्य प्राचीन चिंतन परंपरा में स्वीकृत सम्यक् दृष्टि अथवा सम्यक् दर्शन के विचार में प्रायः विवेकपूर्ण तत्वबोध को ही मान्यता प्रदान की गयी है। विवेक व समीक्षा के आधार पर उस समन्वय को माना गया है जिसमें श्रद्धा न तो अंधश्रद्धा ही बनती है और न ही प्रज्ञा केवल तर्कात्मक ज्ञान बनता है। श्रद्धा और प्रज्ञा के द्वारा जीवन के भावनात्मक और बौद्धिक पक्षों में समन्वय करना ही सम्यक् दर्शन में अंतर्निहित समभाव की विचारणा का प्रमुख तत्व है। अतः उक्त आधारों पर यह कहा जा सकता है कि सम्यक् दर्शन की कुछ विशेषताएं धर्म समभाव की मान्य परिभाषा के सन्निकट हैं यद्यपि उन्हें तत्कालीन समय में धर्म समभाव की विशेषताओं के रूप में तत्व के रूप में वर्णित नहीं किया गया हैं। धर्म समभाव शब्द का प्रयोग प्रायः आधुनिक समकालीन चिंतकों के द्वारा किया गया है, अतः प्राचीन चिंतन में इसके आधार तत्वों अथवा विशेषताओं का भाषाबद्ध व्यवस्थित उल्लेख नहीं मिलता हैं। इस दृष्टि से यहां समकालीन चिंतकों के धर्म समभाव संबंधी तत्व चिंतन का विवेचन प्रासंगिक होगा।

---

94. वही, 23/25

95. अंगुत्तर नि., 1/17; 1/10-12

96. आंखेयसुत्त, सेक्रेड S.B.E 11, उद्धृत खं. -राधाकृष्णन्, भार: दर्शन, भाग 1, पृ. 347

97. मिलिन्द प्रश्न, 2/1

98. मज्झिम नि., 1/5/7

स्वामी विवेकानंद समभाव (धर्म समभाव) को विश्व धर्म का आदर्श मानते हुए ऐसे धर्म को आदर्श के रूप में स्वीकार करने की बात करते हैं, 'जो सब प्रकार की मानसिक अवस्था वालो लोगों के लिये उपयोगी हो, इसमें ज्ञान, भक्ति, योग, और कर्म समभाव से रहें।'[99] अर्थात् उसमें मुक्ति, तर्क, सत्य बुद्धि का विरोध न हो, भक्ति-भावना प्रधान के लिये विभिन्न द्रव्यों (पुष्प, मंदिर, मूर्ति, अनुष्ठान आदि) का स्थान हो, मनसतत्व, योग आदि की मान्यता हो, कर्म साध्यमय हो, कल्याणकर हो[100] इन चारों तत्वों के समन्वय को स्वीकार करते हुए वे धर्मों की विशिष्टता को सुरक्षित रखना भी आवश्यक मानते हैं।[101] इस प्रकार विवेकानंद धर्म समभाव के तत्वों के रूप में ज्ञान, भाव, योग और कर्म के समन्वय को मानते हुए सबके लिये उपयोगी, आदरपूर्वक, सार्वभौमिक, पूर्ण धर्म समभाव को मानते हैं। उनके अनुसार इनके आधार पर स्थापित समभाव-दार्शनिक, वैज्ञानिक, मनसविद्, भक्त आदि सभी स्तरों की अवस्थाओं वाले लोगों को स्वीकार्य हो सकने वाला धर्म अथवा धर्म समन्वय आदर्श धर्म समन्वय है। अन्य शब्दों में धर्म समभाव है। इससे ही विश्व बंधुत्व एवं धर्मों के प्रति निष्पक्ष आदरभाव विकसित हो सकता है।'[102]

महात्मा गांधी धर्म समभाव के तत्वों अथवा विशेषताओं का पृथक से विवेचन नहीं करते हैं, किंतु वे 'सर्व धर्म समभाव' के लेख में सब धर्मों की अपूर्णता की स्वीकृति के साथ सत्य का आग्रह[103], स्वधर्म विषयक प्रेम व निर्मल, सात्विक बोध से (दिव्य दर्शन द्वारा)[104] अपने धर्म की पहचान करना, अन्य धर्मों के ग्राह्य अंश को अपने धर्म में लेने का संकोच न करना।[105], विवेक और नम्रता के द्वारा परमार्थ के लिये तीव्रतम पुरुषार्थ करना[106], बिना किसी टीका-टिप्पणी के एक जैसे नैतिक सिद्धांतों के आधार पर अन्य धर्मों के धर्मग्रंथों को उनके धर्मग्रंथ मान कर सहिष्णुता व आदरपूर्वक पढ़ना[107] आदि को महत्व देते हैं। इन्हें एक प्रकार से उनके द्वारा विवेच्य धर्म समभाव की विशेषताएं/लाभ अथवा आधार तत्व भी कहा

---

99. विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, तृ. खं. पृ. 150
100. वही. पृ. 149-157; दशम., खं., 221
101. वही, तृ. खं. पृ. 147
102. वही, पृ. 141, 145-146, 137
103, गांधी, मो.क., 'सर्व धर्म समभाव', धर्मनीति, पृ. 38, 39
104. वही, पृ. 40
105. वही, पृ. 39
106. वही, पृ. 45, 46
107. वही, पृ. 42-43

जा सकता है। कारण कि वे धर्म समभाव के विचार में इन सबको अंतर्निहित मानते हैं। वे धर्म को व्यक्तिगत वस्तु मानते हैं[108] साथ ही स्वधर्म और परधर्म में अंतर करते हैं।

स्वामी सत्यभक्त धार्मिक अनुभव के द्वारा वैयक्तिक आत्मशुद्धि[109] कर स्व-पर कल्याण के लिये धार्मिक व्यवहार में धर्म समभाव पर आधारित धर्म समन्वय को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार धार्मिक अनुभूति वैयक्तिक होती है किंतु धर्म व्यवहार सामाजिक अथवा सार्वभौमिक होता है। अतः धर्म समभाव के आधार ऐसे होने चाहिये जिन्हें सभी (ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग तथा आस्तिक-नास्तिक (आध्यात्मिक व भौतिकवादी) स्वीकार कर सकें। वे धर्म समभाव में जिन लाभों का अथवा विशेषताओं का उल्लेख करते हैं, वे हैं-सत्यशोधकता, धार्मिक द्वंद परिहार, अनेकांत दृष्टिलब्धि, स्वत्वमोह विजय, इतिहास प्रकाश, कृतध्नता परिहार, धर्म मर्मज्ञता और सामाजिकता वृद्धि।[110]

(1) **सत्यशोधकता**–पक्षपात रहित होकर सत्य की खोज एवं सत्य का बोध समभावी व्यक्ति ही कर सकता है। समभावहीन व्यक्ति अपने धर्म के गुणों की अतिरंजित (वास्तविकता से परे) प्रशंसा करता है और अन्य धर्मों के गुणों की उपेक्षा करता है या उन्हें विकृत रूप में वर्णित कर उनकी निंदा करता है। स्वयं के धर्म (जिसका वह अनुयायी है) के दोषों और त्रुटियों की उपेक्षा करता है। उन्हें छिपाता है। जबकि दूसरे धर्म के दोषों को अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से बार-बार प्रकट करता है। ऐसी अवस्था में वह सत्यान्वेषण नहीं कर पाता है और उसमें सत्य से पराङमुख होने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

(2) **धार्मिक द्वंद परिहार**–व्यक्ति एवं धर्म संस्थाओं में समभाव के अभाव के कारण कई धर्म संबंधी मतभेद उत्पन्न हुए हैं। परस्पर अन्याय व अत्याचार किये गये एवं राष्ट्रों का विभक्तिकरण हुआ।[111] जबकि धर्म समभाव के द्वारा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों, समाजों एवं संस्कृतियों का समन्वय हुआ उनके परस्पर धार्मिक द्वंद दूर हो गये।[112] इस प्रकार धर्म समभाव से धर्म संबंधी विरोध, वैमनस्य, कट्टरता आदि समाप्त हो जाते हैं। परस्पर सौहार्द, सहिष्णुता, सामंजस्य स्थापित होता है।

(3) **अनेकांत दृष्टिलब्धि**–धर्म समभाव से व्यक्ति का दृष्टिकोण व्यापक हो जाता है। वह सभी दृष्टिकोण से वस्तु के गुण-दोषों पर (धर्म के क्षेत्र में धर्म के गुण-दोषों पर) चिंतन कर उनकी उपयोगिता तथा

---

108. Gandhi, M.K., Hindu Dharma, P. 260

109. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 56 II - 61 II

110. वही, पृ. 126 II ; धर्म समभाव, पृ. 10

111. वही, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 127।

112. वही, पृ. 127। (शैव-वैष्णव का समन्वय, आर्य-अनार्य का समन्वय)

अनुपयोगिता को समझकर स्वीकार करता है।[113] अनेकांत सापेक्ष दृष्टि का व्यवहार करता है। 'धर्म समभाव जीवनशुद्धि, समाजशुद्धि, विकास आदि के अनंत रूपों-आचार, विचार व्यवहारों के विषय में निष्पक्ष होकर सापेक्ष दृष्टि से विवेकपूर्ण निर्णय लेने वाली विचारधारा है।[114] अतः वास्तविक समभावी वैचारिक व्यावहारिक रूप से सत्य की एकांतवादिता का अनाग्रही होता है।

(4) **स्वत्वमोह विजय**–धर्म समभावी अपने धर्म के प्रति मोहासक्त (मूढ़तापूर्ण पक्षपाती) नहीं रहता है। अतः वह सदैव निष्पक्षतापूर्ण विचार कर सत्यान्वेषण करता है। मोह व अहंकार रहित होने के कारण अधिक से अधिक सत्य प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वह निकटांध [जो अपनेपन के कारण अपने बड़े दोषों को न देखकर, दूसरों के छोटे-छोटे दोषों को बड़े रूप में (परिमाण) देखता है] नहीं होता है। वह अपने व्यक्तिगत, संकुचित सांप्रदायिक दृष्टिकोण के आधार पर वाद, परिवाद, चर्चा, लेखन आदि कार्य नहीं करता है।

(5) **इतिहास प्रकाश**–अतीतकाल में धर्मों के प्रभाव से जो भी परिवर्तन मानव जीवन में हुए हैं या जो घटनाएं घटित हुई हैं-उन सबको निष्पक्ष एवं सत्यदृष्टि से समझने में धर्म समभाव बहुत बड़ा योगदान देता है। इतिहास में धर्मों के कर्त्तव्य का, मानव समाज को प्रगतिशील बनाने का, अन्य धर्मों के द्वारा सामाजिक परिवर्तन में दिये जाने वाले योगदान एवं द्वंद का निष्पक्ष अध्ययन इतिहास द्वारा ही संभव है क्योंकि प्राचीन ज्ञान के लिये वही (इतिहास) हमारे पास साधन है। अतः समभाव के अभाव में उसके अतिशयोक्तिपूर्ण, पक्षपातपूर्ण या त्रुटिपूर्ण होने की पूर्ण संभावना होती है। उसके अभाव में लेखक (इतिहासज्ञ) का अपने धर्म के प्रति विशेष झुकाव होने से, सहृदयता होने से मोहान्धता का दोष उत्पन्न हो जाता है। अतः यथासंभव त्रुटिरहित ज्ञान प्राप्त करने के लिये इतिहास का अध्ययन व लेखन पक्षपात रहित होकर करना चाहिये। समभावी व्यक्ति ही समस्त प्रकार के मिथ्यात्वों एवं पक्षपातों से रहित होकर इस प्रकार का कार्य कर सकता है। अतः समभाव के लिये इतिहास को सही रूप से समझना आवश्यक है।

(6) **कृतध्नता परिहार**–धर्म समभाव के अभाव में अन्य धर्मों के व महापुरूषों के प्रति व्यक्ति कृतध्न हो जाता है। जिन पूर्वजों ने अथवा महापुरूषों ने अपने युगानुरूप व्यक्ति व समाज का विकास करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया, जिनकी सेवाओं से उसने और उसकी पीढ़ी ने लाभ उठाया होता है,

---

113. वही, पृ. 127 1, 127 11; तुलना-'समं समं पसंसता गरहंता परं क्यं। जे उतत्थ विउस्सन्ति संसारे ते विउस्सियां।।' (जो अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मत की निंदा करने में ही अपना पांडित्य दिखाते हैं और लोक को सत्य से भटकाते हैं, वे एकांतवादी स्वयं संसार चक्र में भटकते रहते हैं)। सूत्रकृ., 1/1/2/23;

114. वही, पृ. 127 11

उनके परोपकारों को वह भूल जाता है। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के स्थान पर अपने संकुचित दृष्टिकोण के कारण उनकी निंदा करता है, उनका विरोध करता है।[115]

यह सत्य है कि पुराने संस्थागत धर्मों के कुछ मान्य सिद्धांत तत्कालीन देश-काल एवं परिस्थितियों के लिये ही उचित थे, आज वे युगबाह्य हैं (युगानुरूप नहीं हैं) या अनुपयोगी हैं किंतु उनकी युगानुरूपता को देखते हुए तथा उन्हें विकास प्रक्रिया की एक सीढ़ी (स्तर रूप) मानते हुए उनके उपकारों को विस्मृत नहीं करना चाहिये। समभावी व्यक्ति अपने महापुरुषों के युगानुरूप कार्यों एवं सिद्धांतों के प्रति कृतज्ञ रहता है। विनम्रतापूर्वक उनका आदर करता है, निंदा नहीं करता है।

(7) **धर्म मर्मज्ञता (धर्मों के सारतत्व का ज्ञान)**–धर्मों के ज्ञान एवं उनके सार तत्वों का ज्ञान न होने से व्यक्ति धर्मांध होकर संप्रदाय विशेष या धर्म विशेष के प्रति मोहासक्त हो जाता है। उसकी विचारशीलता संकुचित हो जाती है। धर्म के संबंध में स्वतंत्रापूर्वक सत्य का चिंतन नहीं कर पाता है क्योंकि व्यक्ति की अपनी ही धर्म या संप्रदाय की सत्यता के प्रति विशेष आग्रह एवं अंधश्रद्धा बनी रहती है। अनाग्रही होकर स्वतंत्रापूर्वक चिंतन करने से व्यक्ति का दृष्टिकोण व्यापक एवं विशाल होता है। वह सभी धर्मों को उदारतापूर्वक जानने का प्रयत्न करता है। उनके सारतत्व को ग्रहण कर उसके आधार पर सत्यासत्य का निर्णय करता है। इस प्रकार धर्मसमभावी में अंधश्रद्धा नहीं रहती है।

(8) **सामाजिकता में वृद्धि**–समभाव के अभाव में व्यक्ति के दुराग्राही होकर धर्म व धर्मतीर्थों में मात्र बाह्याचारों के आधार पर भेद स्थापित करने के कारण व्यक्ति और समाज की एकता प्रायः छिन्न-भिन्न हो जाती है। परस्पर द्वेष, घृणा व संघर्ष उत्पन्न होते हैं। आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक असहयोग व वैमनस्य के उत्पन्न होने से व्यक्ति व समाज के पारस्परिक आदान-प्रदान बंद हो जाते हैं। धर्मों के उत्सवों, त्यौहारों, जयंतियों आदि में सामान्य लोकव्यवहार तथा शिष्टाचार का भी अभाव हो जाता है। सामाजिकता का यह अभाव मानवीय एकता में तो बाधक है ही किंतु राष्ट्रीय एकता में भी बाधक होता है।[116]

व्यक्ति व समाज कूपमंडुक (अपने आप में सीमित एवं अहंभाव से ग्रस्त) हो जाते हैं तथा उनका समग्र बौद्धिक और मानसिक विकास नहीं हो पाता है। समभाव से उक्त बुराईयां दूर हो जाती हैं। वह मनुष्य, मनुष्य की चेतनात्मक एकता के आधार पर समाज व धर्म के प्रति समन्वय स्थापित कर राष्ट्रीय व वैश्विक एकता के भाव को विकसित करता है।

---

115. वही, पृ. 128 ।।

116. वहीं, पृ. 129।

स्वामी सत्यभक्त के द्वारा समभाव (धर्म समभाव) की वर्णित इन विशेषताओं के आधार पर यहां पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या भिन्न-भिन्न धर्मों के संस्थापक, महापुरुष ज्ञान, संयम आदि गुणों में समान थे? उनमें कोई अंतर नहीं था, और यदि अंतर था तो देशकाल का अंतर बताकर भी समभाव की व्यावहारिकता कैसे निरूपित की जा सकती है, सबको समान कैसे समझा जा सकता है, अर्थात् सबके प्रति समान आदरभाव कैसे हो सकता है?

इस प्रश्न का प्रत्युत्तर[117] देते हुए स्पष्ट करते हैं कि 'विश्वप्रेम, सर्वभूतसमता आदि शब्दों के प्रयोग में जिस प्रकार गुणी-दुर्गुणी आदि का संकर (मिश्रण या एकत्व) नहीं किया जाता उनका विवेक रखा जाता है, उसी प्रकार धर्म समभाव में भी गुण-दुर्गुण और उनकी तरमता (न्यूनाधिकता अथवा अविकसितता का ठीक-ठीक विचार करना, उनमें अंतर करना) का ध्यान रखा जाता है।' 'विश्वप्रेम का अर्थ यह है कि विश्वप्रेमी ने साधारण रूप में सबके साथ प्रेम करने का निश्चय किया है और अब वह किसी मोह या स्वार्थवश उनके साथ अन्याय नहीं करेगा तथा स्वभावतः उनके साथ प्रेम करेगा। धर्म समभावी भी इसी तरह सब धर्मों के साथ स्वभावतः प्रेम करता है, उनके साथ किसी प्रकार का अन्याय नहीं करता, स्वार्थ या मोह के कारण उनकी निंदा नहीं करता, विश्वप्रेमी सबको पहले प्रेमपात्र बनाता है, फिर यदि उसमें पाप हो (दोष हो) तो वह उसकी उपेक्षा करता या दूर हटता है। उसी प्रकार धर्म समभावी (धर्म समभाव का व्यवहार करने वाला) सब धर्मों से पहले प्रेम करता है, फिर यदि किसी में कोई दोष (अनुपयुक्ता, खराबी) दिखाई दे तो वह उसकी उपेक्षा करता है, दूर हटता है (दोषों का त्याग करता है)।'[118] अन्य शब्दों में मूल चेतना के आधार पर उनमें कोई अंतर नहीं करता है पर उसमें गुण व दोषों के अंतर को ध्यान में रखता है उनका मिश्रण नहीं करता है।

धर्म समभाव का व्यवहार करने वाला व्यक्ति यह मानकर चलता है कि साधारणतः सभी धर्म जगत के कल्याण के लिये उत्पन्न हुए हैं। वह प्रचलित धर्म की युग के अनुसार मानव कल्याण विरोधिता की विवेकपूर्ण जांच करने के पश्चात् ही उसे स्वीकार या अस्वीकार करता है। जबकि धर्म समभाव विरोधी केवल अपने धर्म को (जिस धर्म का वह अनुयायी है एवं जिसे वह सत्य समझता है) छोड़कर अन्य सब धर्मों को मिथ्या समझता है। महापुरुषों, तीर्थकरों, पैगंबरों में ज्ञान, संयम आदि की दृष्टि से अंतर तो होता है लेकिन इससे धर्म समभाव के व्यवहार में बाधा उत्पन्न नहीं होती है। जैसे : माता, पिता, चाचा आदि में अंतर होता है किंतु साधारणतः व्यवहार में वे सब वंदनीय/आदरणीय होते हैं।[119] लेकिन वंदनीय होने से अंतर समाप्त नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि समभावी अपने तीर्थ या तीर्थंकर एवं धर्म का अंधप्रशंसक

---

117. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 129।।

118. वही, पृ. 129।।

119. वही, पृ. 130।

और दूसरों के धर्म का अंधनिंदक नहीं होता है। वह विवेकहीन होकर सबकों सत्य नहीं मानता है वरन् संकुचितता का त्याग कर निष्पक्षता से उनका निरीक्षण परीक्षण करता है, गुण-दोषों की जांच करता है, इससे समभाव पर कोई आंच नहीं आती है। इससे अपने युग की समस्याओं का निराकरण करने में सहायता मिलती है तथा मानव-जीवन के लिये युगानुरूप विकास का मार्ग प्रशस्त होता है।

धर्मों में भेद एवं भेदों के कारण उत्पन्न द्वंद अथवा संघर्ष समाप्त करने के लिये स्वामी सत्यभक्त द्वारा निम्न दो उपायों को स्वीकार किया गया है।'[120]

(1) **गौरव विवेक** – इसका अर्थ है कि हमारा गौरव (मान-सम्मान) अपने धर्म के अच्छे या बुरे होने में नहीं है वरन् अपने जीवन को अच्छा या बुरा बनाने में हैं। अतः उपलब्ध धर्मों में से अच्छे से अच्छे युगानुरूपता से मेल खाने वाले (कम दोषपूर्ण) धर्म का चयन कर अपने जीवन को अच्छा बनाने का प्रयत्न करना गौरव विवेक है।

(2) **तरमता विवेक** – इसक अर्थ धर्मों की न्यूनाधिकता या अविकसितता का ठीक-ठीक अंतर ध्यान में रखकर विचार करने से सत्यबोध होता है व द्वंद समाप्त हो जाते हैं।[121] वास्तविक विकास और विकास प्रतीत होने वाले भ्रम में विवेक और विश्लेषण से अंतर का सत्य के आधार पर तो सम्मान करना ही चाहिये। परंतु इसके अतिरिक्त धर्म के संदेशों और महामानवों (महापुरुषों) को निम्न तीन कारणों से भी सम्मानीय माना गया है-

प्रथम, पारिस्थितिक महत्ता[122] के आधार पर-इसके अंतर्गत जो व्यक्ति या वस्तु अपने देशकाल में महान है उसके उस युगानुरूप महत्व को स्वीकार कर सम्मान करना चाहिये। चाहे वह आज की परिस्थितियों में महत्वपूर्ण न हो, क्योंकि वह व्यक्ति या विचार अपने युग की साधन सुविधाओं, विचारों, परिवेश आदि के आधार पर अपने ही युग के व्यक्तियों व प्रचलित विचारों की अपेक्षा प्रगतिशील हुआ है। तत्कालीन समय में जो कुछ उसे उपलब्ध हुआ उसके आधार पर वह उतना ही अच्छा बन सका। यह पारिस्थितिक महत्ता का विचार धर्म के क्षेत्र में धर्मों के द्वंद एवं अहंकार का परिहार करता है और युगबाह्य विचार में अंधश्रद्धा भी नहीं होती है। द्वितीय, सार्वजनिक कृतज्ञता के आधार पर-इसे सामूहिक कृतज्ञता भी कहा गया है।[123] इसका तात्पर्य है हमारा आज का जो विकास हुआ है उसके मूल में पूर्वजों (पूर्वगामी) का पर्याप्त योगदान है अतः वर्तमान युग को विगत युग का और आज के महामानवों के अपने

---

120. वही, धर्म समभाव, पृ. 35

121. वही, पृ. 35

122. वही, पृ. 36

123. वही, पृ. 36

से पूर्व के सभी महामानवों (पूर्वजों) का कृतज्ञ होकर आदर करना चाहिये। तृतीय, बंधु पूज्य समादर के आधार पर-यह वह व्यावहारिक भाव है जिसके अंतर्गत हम अपने पड़ौसियों, सहयोगियों, गुरुजनों, परिजनों (माता-पिता, भाई-बहन, चाचा आदि) व बड़ों आदि के संबंध में आदर रखते हैं। मित्र-पूज्य, बंधु-पूज्य, गुरू-पूज्य के आधार पर उनका सम्मान करना चाहिये। उनके लिये जो सम्मानीय हैं वे हमारे लिये भी सम्मानीय हैं। उनके गुणों का सम्मान करना चाहिये।

धर्मों के विषय में जो अनेक प्रकार के भ्रम[124] उत्पन्न होते हैं उनके निराकरण के लिये धर्मशास्त्र की मर्यादा (नैतिक नियम, उनके पालन के उपाय और उनके पालन से होने वाले हानि-लाभों को स्पष्ट करना) निर्धारित करनी चाहिये। उनमें उचित परिवर्तन (धर्म के अतिरिक्त उनमें अन्य विषयों से संबंधित विविधताओं का परिहार व सर्वविद्या जैसे भूगोल, ज्योतिष, पदार्थ विज्ञान आदि के शास्त्र होने के भ्रम का परिहार) करना चाहिये। व्यापक दृष्टि अपनाते हुए अनुदारता के संस्कारों का त्याग एवं सर्वज्ञता की उचित परिभाषा व मान्यता (समस्त का प्रति समय/त्रिकाल का एक साथ युगपत प्रत्यक्ष करना अंधश्रद्धा तथा तर्कहीन है, इससे बुद्धि विशेषता का ज्ञान नहीं होगा) का सही निर्धारण कर धर्मशास्त्र के सही एक विषय का निरूपण कर देने से कई भ्रमों का निवारण हो जाने की और धर्मों के अंतर के समाप्त हो जाने की संभावना बढ़ जाएगी। इससे धर्मों का अंतर्द्वंद भी बहुत कुछ समाप्त हो सकता है। अतः स्वामी सत्यभक्त द्वारा वर्णित लाभों/विशेषताओं को सर्वधर्म समभाव के तत्व के रूप में भी माना जा सकता है। कारण कि वे इनके आधार पर धर्म समभाव की अर्थपूर्णता प्रकट करते हैं। उनके अनुसार एक धर्म समभावी व्यक्ति में ये विशेषताएं होनी चाहिये। जिस व्यक्ति में ये विशेषताएं होती हैं वह सबके प्रति विवेकपूर्ण समभावपूर्ण व्यवहार करता है। उसमें चेतनात्मक स्तर पर विश्वभूत समता व विश्वप्रेम की दृष्टि विकसित हो जाती है तथा सत्य को महत्व देते हुए सबके प्रति राग-द्वेष से परे रहकर आदरपूर्वक समानता का व्यवहार करता है।

विनोबा भावे धर्म को अध्यात्म के वैयक्तिक अनुभव के आधार पर धर्म समभाव को मानते हुए विचार स्तर पर उसे (धर्म को) सार्वभौमिक (आम) मानते हैं।[125] वे धर्म समभाव के संबंध में महात्मा गांधी के मत को स्वीकार करते हैं तथापि विशेषता व तत्वों के रूप में विवेक के द्वारा सत्य-मिथ्या, धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की पहचान के लिये मेधा [विवेक, संश्लेषण-विश्लेषण, अनुभव, बुद्धि, (तर्क), श्रद्धा (आदरभाव) शुचिता (पवित्रता) आदि] को स्वीकार करते हैं।[126] इनके आधार पर गुण-दोषों का निर्णय करना समभाव के लिये आवश्यक मानते हैं। मानवता और आध्यात्मिक अनुभव ये दोनों धर्म के न्यूनतम

---

124. वही, पृ. 49-71

125. भावे, विनोबा चिंतन, अंक 16, पृ. 173; 44-45-46, पृ. 392

126. सिंह दशरथ, गांधीवाद को विनोबा की देन, पृ. 76-81, 86-91, 108, 74

और उच्चतम तत्व हैं। इनके समन्वय से आवश्यक बाह्य विधियों का निषेध हो जाता है। कालबाह्य धर्मपंथ, विधियां संघर्ष उत्पन्न करती हैं अतः उनका निषेध कर बुद्धि द्वारा उनमें उच्चतम समान सार तत्व 'मानवता' और न्यूनतम समान गुणक आध्यात्मिक अनुभव के द्वारा उनमें समन्वय की स्थापना की जा सकती है। इसके द्वारा धर्म की पूर्णता जानकर परम सत्य को (प्रभु) उपलब्ध हुआ जा सकता है।[127] आपसी भेदभाव नष्ट हो जाते हैं।[128]

समभाव और धर्म समभाव की विशेषताओं व आधार तत्वों के विषय में अध्ययन करने से प्रथमतः यह स्पष्ट होता है कि धर्म समभाव के तत्वों का पृथक से निरूपण नहीं किया गया है। उन्हें प्रायः विशेषताओं में ही अंतर्भूत मान लिया गया है। द्वितीयतः यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश चिंतक जैसेः स्वामी विवेकानंद, स्वामी सत्यभक्त और विनोबा भावे धर्म समभाव के संबंध में विवेक-बुद्धि के आधार पर अनुभव व तर्कयुक्ति के द्वारा तुलना (संश्लेषण व विश्लेषण पूर्वक) को प्रमुखता देते हैं। इस तर्कयुक्तिपरक तुलना की ओर महात्मा गांधी ने विशेष ध्यान नहीं दिया है।

यद्यपि विवेकानंद, विनोबा भावे आदि चिंतकों ने धर्म व अनुभव के साथ विवेक अथवा बुद्धि को पर्याप्त महत्व देते हुए धर्म समभाव के तत्वों के रूप में सभी युगबाह्यताओं को दूर कर विवेक से निष्पक्षतापूर्वक गुणों का ग्रहण करना व दोषों का त्याग करना, सत्यानुसरण के लिये सत्यनिष्ठ दृष्टिकोण रखना, अमूढ़ता भाव एवं अंधश्रद्धा का त्याग, सारतत्व का ग्रहण एवं उसके सार्वभौमिक स्वरूप के रूप में स्वपर (वैयक्तिक एवं सामाजिक) कल्याण के लिये विश्व प्रेम को स्वीकार किया है तथापि सत्यभक्त धर्म समभाव का अपेक्षाकृत सुव्यवस्थित पूर्ण स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत करते हैं। उनके द्वारा वर्णित धर्म समभाव की विशेषताएं-प्रायः सभी प्रकार की अवस्थाओं अथवा वृत्तियों वाले लोगों यथा दार्शनिक, वैज्ञानिक, भक्त, मनस्विद, ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, आस्तिक, नास्तिक आदि को समान रूप से मान्य हो सकती हैं। कारण कि सभी विवेकी धर्म चिंतक एवं समभावी चिंतक सत्यनिष्ठ सत्यान्वेषण, अहंकार व धार्मिक कट्टरता का त्याग, मिथ्यात्वों का त्याग, सभी के प्रति विनयपूर्ण आदरभाव, कृतज्ञता एवं सौहार्दता-सहिष्णुता, धर्म के सार तत्व का बोध व ग्रहण तथा वैयक्तिक व सामाजिक कल्याण (स्व-पर कल्याण) के लिये विश्व प्रेम एवं मानवतावादी व्यवहार को जीवन का श्रेष्ठ आदर्श मानते हैं। अतः स्वामी सत्यभक्त के द्वारा धर्म समभाव एवं समभाव के लिये निर्धारित विशेषताओं में इन सबका समग्र समावेश और समन्वय किया गया है। इसलिये सत्यशोधकता, धार्मिक द्वंद परिहार, अनेकांत दृष्टिलब्धि, स्वत्वमोह

---

127. वही, पृ. 277

128. भावे, विनोबा, विनोबा चिंतन, अंक 30, पृ. 231

विजय, इतिहास प्रकाश, कृतध्नता परिहार, धर्ममर्मज्ञता, सामाजिकता वृद्धि को धर्म समभाव के तत्व के रूप में भी माना जा सकता है।

पाश्चात्य चिंतन में हमें सम्यक् दर्शन, सम्यक् दृष्टि या धर्म समभाव जैसे शब्द का प्रयोग या ऐसे अर्थ को समाहित करने वाला शब्द नहीं मिलता किंतु धर्म चेतना के स्तर पर एकात्म बोध की विचारणा अवश्य मिलती है। धर्मशास्त्र में कहा गया है कि 'वरदान कई प्रकार के हैं किंतु आत्मा एक ही है, परमेश्वर एक ही है जो सबमें हर प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करता है।'[129] वह प्रेममय है, कृपालु है, ईर्ष्या नहीं करता, अपनी बड़ाई नहीं करता, अहंकार नहीं करता, अनरीति से नहीं चलता, सब बाते सह लेता है, सत्य से आनंदित होता है, अतः हम आपस में प्रेम करें, अपने भाइयों से (मनुष्यों से) प्रेम करें।[130]

क़ुरआन शरीफ़ में संपूर्ण सृष्टि को अल्लाह से उत्पन्न मानते हुए[131] चेतनात्मक एकता की बात स्पष्ट की गयी है। कहा गया है कि सब जीव अल्लाह द्वारा ही उत्पन्न हैं तथा अल्लाह ने सारे इंसान को सभी प्राणियों से श्रेष्ठ (आदमी में अपनी सांस फूंक कर) बनाया है। अतः उसे (इंसान) संयमित, ईमानदारी का जीवन व्यतीत करना चाहिये। नेक (ईमानदार) व सत्कर्मी को कोई डर नहीं होगा और न वे उदास रहेंगे।[132] तुम्हारी तरफ़ और उनकी तरफ़ जो तुमसे पहले हो चुके हैं 'वही' संदेश भेजता रहता है।[133] जब कभी हमने कोई पैग़ंबर भेजा तो उसी क़ौम की ज़बान में (उसी जाति की भाषा में बातचीत करता हुआ) भेजा ताकि वह उनको समझा सके।[134] जहां कहीं मुंह कर लो उधर ही को अल्लाह का सामना है।[135] भलाई उनकी है जो अल्लाह (ईश्वर) और क़यामत (प्रलय) के दिन पर फ़रिश्तों (ईशदूतों) और सब क़िताबों (धर्मशास्त्रों) पर और सब पैग़ंबरों पर ईमान लायें[136] वह क्षमा करने वाला है।[137] अपनी आवाज़ों को पैग़ंबर की आवाज़ से ऊंचा न होने दो[138] आख़िरत के दिन सत्य ही होता है असत्य नष्ट होता है।[139] इन उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि पाश्चात्य धर्म-साहित्य परम्परा में सम्यक् दर्शन या

---

129. 1 Cor., 12/4-6
130. Ibid, 13/4-7; John, 4/7-13
131. क़ुर. शरीफ़, सूरा 2/284; 3/28-29, 40/64; 42/23
132. वही, 2/112; 115, 98/7
133. वही, 42/1-2
134. वही, 14/4
135. वही, 2/115
136. वही, 2/1-4, 177
137. वही, 60/7-8
138. वही, 49/1-2
139. वही, 79/39

7—259 Min. of H.R.D./2005

समभाव के अर्थ को निरूपित करने वाला शब्द यद्यपि उपलब्ध नहीं होता है तथापि उनमें राग-द्वेष से परे समानता का भाव मनुष्य को अल्लाह से या परमेश्वर से उत्पन्न मानते हुए चेतनात्मक एकता का विचार एवं अन्य धर्मों के प्रति विश्वास, सहिष्णुता, आदरभाव, श्रद्धा-विनय के जैसे विचार पाये जाते हैं, जो एक प्रकार से धर्म समभाव के लिये स्वीकार योग्य विशेषताएं अथवा आधार-तत्व के रूप में माने जा सकते हैं।

पिछले पृष्ठों में हमने सम्यक् दर्शन से उत्पन्न एवं समानता के भाव से उत्पन्न चेतनात्मक एकता का विचार, राग-द्वेष से परे-अनासक्त समभाव का विचार, विवेकपूर्ण युक्तिसंगत श्रद्धागत विनय के आधार पर सर्वधर्म समादर भाव, एकांतिक मान्यताओं से परे रहकर यथार्थ दृष्टिकोण को शुभ के रूप में और अशुभ (मिथ्यात्व, रूढ़ि आदि) को अशुभ के रूप में जानने का सत्यबोध अथवा सत्यासत्य विवेक की मान्यता को विशेषताओं के रूप में प्रतिपादित किया है जो समभाव के तत्वों के रूप में मान्य हो सकते हैं। यदि इन पर (समभाव की विशेषताओं के आधार पर निर्धारित किये आधार तत्वों पर) दृष्टिपात करें तो एक प्रकार से संक्षेप में यह कह सकते हैं कि समभाव अथवा धर्म समभाव सम्यक् दृष्टि या सम्यक् दर्शन से उत्पन्न वह विचारपूर्ण व्यवहार है जिसमें समानता के भाव से उत्पन्न चेतनात्मक एकता अथवा सर्वभूत समता; राग-द्वेष से परे अनासक्त एवं निष्पक्षभाव के आधार पर समानता एवं विवेकपूर्ण आधार पर धर्मों के प्रति समादर भाव होता है। अतः हम अपने आगामी अध्यायों में धर्मों में स्वीकृत इन तत्वों का अध्ययन करते हुए अपना चिंतन प्रस्तुत करेंगे।

2.3 धर्म समभाव की आवश्यकता :

सामान्यतः उच्चतर जीवन के लिये धर्म के दो पक्ष माने जा सकते हैं। प्रथम वैयक्तिक साधनामय अनुभूतिपरक पक्ष और द्वितीय आचरणात्मक पक्ष। धर्म की वैयक्तिक साधना के अंतर्गत शम-दम से इंद्रिय-संयम, अनासक्त भाव (सुख-दुख, राग-द्वेष आदि से परे), योग (ज्ञान, कर्म, भक्ति, ध्यान) साधना से अंतःकरण की शुद्धि (आत्मशुद्धि) कर तत्वबोध या सत्यबोध को माना गया है।[140] इनके द्वारा ही अंतदर्शन अथवा आत्मानुभूति के रूप में वैश्विक स्तर पर चेतनात्मक एकता अथवा सर्वभूत समता का बोध होता है। इस बोध का एकांतिक अनुभव पर्याप्त नहीं माना गया है वरन् इसका व्यवहार सामाजिक कल्याण के लिये आवश्यक माना गया है क्योंकि समाज अथवा संसार ही हमारी कर्मभूमि है।[141] अतः धार्मिक

---

140. विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, तृ. खं., पृ. 99-123, 93; सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 56 II -125 I, सत्यामृत-आचार कांड, पृ. 47 I-109

141. विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, तृ. खं., पृ. 54, 66, 77, 88; सत्यभक्त, सत्यामृत दृष्टिकांड, पृ. 51 II - 56

अनुभूति के द्वारा समस्त जीवन की शक्तियों का सम्यक् बोध कर उसके आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर ही मानवता की स्थापना अथवा सामाजिक कल्याण (विश्वसुखवर्धन) की स्थापना हो सकती है। धर्म एक पूर्ण विचार है जो समाज के किसी एक अंश पर लागू न होकर संपूर्ण समाज पर लागू होता है।[142] वह आत्मकल्याण व जगतकल्याण के लिये है।[143] धर्म की यह सामाजिकता सद् आचरण के द्वारा स्पष्ट होती है जो कर्त्तव्यों एवं नैतिक सिद्धांतों के पालन के अर्थ में है। सत्य, अहिंसा, प्रेम संयम आदि को इसी अर्थ में धर्म कहा गया है।[144]

इन कर्त्तव्यों व नैतिक सिद्धांतों का प्रतिपादन विभिन्न महापुरुषों द्वारा धार्मिक अनुभूति के परिणामस्वरूप मानव के सद्गुणी जीवन हेतु किया गया। मानव व संसार के दुःखों को दूर करने के लिये परोपकार की भावना से बिना किसी भेदभाव के अपने देशकाल के अनुरूप धर्म की स्थापना की गयी। इन धर्म संगठनों में समाज के लिये उस समय की उपयोगिता की दृष्टि से कुछ व्रत, अनुष्ठान, सिद्धांत आदि बाह्यचारों अथवा रीति-नीति की स्थापना की जो स्वयं धर्म नहीं वरन् बाह्य धर्माचरण के प्रतीक के रूप थे। परंतु कालांतर में इन बाह्य धर्माचरणों को ही प्रमुख धर्म के रूप में मान लेने से विभिन्न संप्रदायों अथवा धर्मपंथों का आविर्भाव हुआ। धर्म का प्रमुख उद्देश्य आत्मानुभूति के आधार पर सब प्राणियों में सर्वभूत समता अथवा चेतनात्मक एकता को स्पष्ट करना, राग-द्वेष से परे सबके प्रति समानता का भाव विकसित करना, विश्वकल्याण करना, परस्पर बंधुत्व की भावना को विकसित कर शांतिदायक सहयोग, प्रेम, परोपकार, आनंद के भाव उत्पन्न करना था। किंतु संस्थागत धर्मानुयायियों में चेतनात्मक स्तर पर अनुभूत की जाने वाली इस गहन धार्मिक अनुभूति के अभाव में धर्म ने मनुष्य व समाज को जोड़ने की अपेक्षा तोड़ने का कार्य ही अधिक किया है।[145] समाज तथा मानव विकास में संस्थागत धर्मों का बहुत उत्साहवर्धक योगदान नहीं रहा है।

ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने पर जगत् के विभिन्न धर्म संप्रदायों में अथवा संस्थागत धर्मों से मनुष्यों के आध्यात्मिक संघर्ष का परिचय मिलता है। 'भिन्न-भिन्न समाज जिस प्रकार परस्पर कलह और युद्ध कर रहे हैं-उसी प्रकार ये धर्म-संप्रदाय भी परस्पर कलह और युद्ध कर रहें हैं।[146] प्रत्येक

---

142. भावे, विनोबा चिंतन, अंक 44-46, पृ. 392; साम्यसूत्र, पृ. 13-77; आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ. 195; सत्यभक्त, सत्यामृत-आचारकांड, पृ. 231-233

143. सत्यभक्त, धर्म मीमांसा, पृ. 17-18, 29-41

144. वही, पृ. 3; भावे, विनोबा, विनोबा चिंतन, अंक 40-41, (1969), पृ. 151

145. वही, अंक 44-45-46, पृ. 392

146. विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, तृ. खं., पृ. 124

धर्म/धर्मानुयायी अपने एकांतिक सत्य होने का अधिकारपूर्ण दावा करता है।[147] वह जगत में समष्टिभाव पर आधारित मानव कल्याण के लिये भातृत्वभाव, प्रेम, शांति और सहयोग के विस्तार की अपेक्षा वैमनस्य, घृणा, विद्वेष, कटुता, अंधविश्वास, रूढ़िवाद, वैचारिक आग्रह, कट्टरता, मत-मतांतरवाद पर आधारित असहिष्णुता, विघटन-विभाजन आदि को बढ़ाता रहा है।[148] संस्थागत धर्म व अनुयायी परस्पर एक दूसरे की आलोचना प्रत्यालोचना करते रहे हैं।

इसीलिये विवेकानंद ने कहा कि 'धर्म ने मानव और मानव के बीच जितनी कटुता या शत्रुता को प्रसारित किया है उतना किसी दूसरे ने नहीं किया है।'[149] राधाकृष्णन् ने भी संस्थागत धर्मों की ऐसी स्थितियों के कारण ही लिखा है कि 'एक धर्म का जितना विरोधी अन्य धर्म है उतना विरोधी कोई दूसरा नहीं है।'[150]

यहां यह पूछा जा सकता है कि यदि धर्मों से मानव समाज में शांति एकता व प्रेम के स्थान पर विद्वेष, कटुता, संघर्ष, वैमनस्य उत्पन्न हो रहें हैं तो ऐसे धर्मों की क्या आवश्यकता है? ऐसे धर्मों का अंत कर दिया जाना चाहिये।

कुछ चिंतकों ने मानवता की रक्षा के लिये, धर्म का अंत कर देने के लिये अपना चिंतन प्रस्तुत किया जिसका विवेचन हम अपने पूर्व अध्याय में कर चुके हैं। परंतु उनके इस विचार को मान्यता नहीं दी जा सकती है। धर्म को मानव जीवन से निष्कासित नहीं किया जा सकता क्योंकि यह मानव जीवन के महत्वपूर्ण पक्षों में से एक है। मानव चेतना धर्म के साथ और धर्म मानव चेतना के साथ अवियोज्य रूप से जुड़ी हुई है। अतः धर्म का अंत करना उचित प्रतीत नहीं होता है।[151] यदि इसका अंत करना उचित मान भी लिया जाये तो भी इसका पूर्ण ध्वंस नहीं हो सकता है। 'उसके प्रतीकों में भले ही परिवर्तन हो जाए किंतु उनके द्वारा किसी न किसी रूप में आस्तिकता बनी रहती है। यहां तक कि नास्तिकता के

---

147. वही, तृ. खं., पृ. 124-125

148. वही, तृ. खं., पृ. 124-125

149. 'Nothing has made more bitter enimity between man and man than religion.' Vivekanand, Gyna Yoga, P. 373

150. 'Nothing is so hostile to religion as other religion.' Radhakrishanan, Speeches and Writings, P. 305

151. विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, तृ. खं., पृ. 131; सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 136।, 137।।; Narayan, S., (Ed.), The Selected Works of M. Gandhi, P. 241

संदेशक भी आज तीर्थंकर एवं देवता की तरह उपास्य है।'[152] धर्म के संबंध में कितनी ही नास्तिकता का परिचय दें, यदि हमारी नास्तिकता सबल है तो उसी के नाम पर विराट आस्तिकता उत्पन्न हो जाएगी।[153] जैसे : नास्तिक व धर्म विरोधी समाजवादियों के लिये-इस सिद्धांत के प्रवर्त्तकों के जन्मस्थान एवं निवास स्थान ने एक प्रकार से तीर्थ स्थान के रूप में, मान्य ग्रंथ दास कैपिटल ने धर्मग्रंथ के रूप में एंव मार्क्स, लेनिन आदि ने एक प्रकार से नास्तिकता के पैगंबर अथवा नास्तिकता के तीर्थंकर के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है। समाजवाद के प्रति सत्यनिष्ठ व्यक्ति उनमें अपनी आस्था और विश्वास रखते हैं तथा उनकी प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। अतः कह सकते हैं कि धर्म को पूर्णतः नष्ट नहीं किया जा सकता है। उनका रूप भले ही परिवर्तित कर दिया जाए या हो जाए किंतु तत्व व सत्य के प्रति मानव का विश्वास और श्रद्धा सदैव बने रहेंगे।

द्वितीय यह कि भिन्न-भिन्न धर्मों को रखना या हटाना किसी एक व्यक्ति के वश में नहीं है। उन्हें बलपूर्वक नष्ट नहीं किया जा सकता है। विश्व में एक ही धर्म हो, समाज हो यह श्रेष्ठ है किंतु यह संभव प्रतीत नहीं होता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान में अधिक आवश्यकता इस बात की है कि विविध धर्मों में उदारता और समता का दृष्टिकोण हो।[154] अनेक धर्मों का होना अनुचित नहीं है, अनुचित है उनकी कट्टरता, अनुदारता असहिष्णुता एवं रूढ़िवादिता।

धर्म का उद्देश्य तो जगत में प्रेम, शांति व आनंद को विकसित करना है। धर्म के अंतर्गत सभी प्रचलित संस्थागत धर्मों को इसलिये स्वीकार किया गया है कि एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिये (आत्मशुद्धि द्वारा आध्यात्मिक विकास और उसकी आत्मानुभूति के आधार पर जगत में दु.ख निवारण तथा स्वपर कल्याण करना) भिन्न-भिन्न देश व काल में किये गये भिन्न-भिन्न प्रयास हैं। अतः विश्व में धर्म के विभिन्न रूप मिलते हैं। देश काल के अनुसार बाह्याचार (मंदिर, मस्ज़िद, भाषा, कर्मकांड, विधि-विधान, शस्त्र आदि) में वे विरोधी हैं, किंतु उनके पीछे मूल उद्देश्य एक ही है।[155] अतः प्रत्यक धर्म को अन्य धर्म से पृथक मानते हुए भी विरोधी मानना उपयुक्त नहीं है। सभी धर्म मानवीय मूल्यों के संरक्षण पर बल देते हैं, सभी धर्म चेतनात्मक एकता को स्वीकार करते हैं। प्रत्येक धर्म में सत्य अंतर्निहित है। अतः वह नष्ट न हो और उनकी (धर्मों की) विविधता भी बनी रहे इसके लिये उनमें धर्म समभाव के द्वारा ही समन्वय अथवा सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

धर्म समभाव के स्वीकृत तत्वों के आधार पर धर्म समन्वय करने पर सत्य अक्षुण्ण रहता है तथा मिथ्यात्व, रूढ़िवादिता, धार्मिक कट्टरता, मोहांधता, संकीर्ण व संकुचित दृष्टिकोण आदि समाप्त हो जाते

152-153. सत्यभक्त, वही, पृ. 137 ॥ तुलना-'जड़वादी नास्तिक को यदि उसकी इच्छा के अनुरूप आदर्शों को दिखाया जा सके तो वे श्रेष्ठ आध्यात्मिक अनुभूति संपन्न व्यक्ति हो सकेंगे।'-विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, तृ. खं., पृ. 132; चतुर्थ खंड, पृ. 187

154. वही, सत्यभक्त, सत्यामृत-व्यवहार काण्ड, पृ. 619।

155. Das, Bhagwan, The essential unity of Religions, P. 47; Radhakrishanan, Recovery of faith, P. 188; east and west in religions, P. 29; सत्यभक्त, सत्यामृत-व्यवहारकाण्ड, पृ. 626।

हैं। सभी धर्मों के प्रति सत्यनिष्ठ एवं विनयगत आदरभाव विकसित होता है।[156] धर्म समभाव के अंतर्गत जो निष्पक्ष विश्लेषण किया जाता है उसमें विषमता (दोष) एवं गुण दोनों पर ध्यान दिया जाता है। इससे अपने धर्म के प्रति पक्षपात नहीं रहता तथा अन्य धर्मों के प्रति उपेक्षाभाव या द्वेष के भाव इसलिये नहीं रहते कि वे मात्र पराये हैं। वरन् सत्यान्वेषण परक दृष्टि के आधार पर मानवतावादी, कल्याणकारक सिद्धांतों को अपनाता है व अन्य का परिहार करता है।[157] अतः धर्म समभाव की महत्ती आवश्यकता स्पष्ट होती है।

इसके अतिरिक्त धर्म समभाव में धर्मों का मिश्रण नहीं होता वरन् सत्यशोधकता, धार्मिक द्वंद परिहार, अनेकांत दृष्टिलब्धि, स्वत्वमोह विजय, इतिहास प्रकाश, कृतध्नता परिहार, धर्म मर्मज्ञता व सामाजिकता वृद्धि जैसे तत्वों की सहभागिता होती है। उनमें आदर्शों के प्रति परस्पर आवेष्टित होने के भाव की उत्पति होती है और मानव तथा समाज उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होता है।[158] अतः उपर्युक्त आधारों पर कहा जा सकता है कि धर्मों के विवेकपूर्ण समन्वय हेतु एवं धर्मों की निष्ठा के समादर हेतु धर्म समभाव का पालन आवश्यक है।

सारतः स्पष्ट है कि पूर्ण धर्म समभाव की अवधारणा में-

- सत्यशोधकता को स्वीकार किया गया है। सत्यान्वेषण आग्रह दृष्टि के द्वारा संभव नहीं है। पूर्ण अनाग्रही दृष्टि ही सत्य को प्रदान कर सकती है। इसमें राग-द्वेष से परे रहकर 'मेरा जो है, सत्य है' के स्थान पर 'जो सत्य है वह मेरा है' की दृष्टि होती है। सत्य चाहे अपने धर्म का हो या विरोधी धर्म का हो उसे स्वीकार करने के लिये सदैव तैयार रहना चाहिये। सत्य अपना या पराया नहीं होता हैं।
- स्वयं के धर्म विचार पक्ष के प्रति भी विपक्ष के समान ही विश्लेषणात्मक, समालोचनात्मक दृष्टि होती है। अर्थात् पक्ष और विपक्ष के सत्य को एक जैसे सत्य दृष्टिकोण के आधार पर समझा जाता है। सबके प्रति तुलना व विश्लेषण की दृष्टि अपनायी जाती है।

---

156. विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, तृ. खं., पृ. 109; 158-159; च.खं., पृ. 191

157. सत्यभक्त, सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 129-130, 158

158. विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, तृ.खं. पृ. 151; सत्यभक्त, धर्म समभाव, पृ. 74

- देश-काल एवं परिस्थिति के परिवर्तन, अनुभव व ज्ञान वृद्धि के साथ यदि नये सत्यों का प्रकटीकरण हो तथा पूर्वग्रहीत धर्म-विचार देश काल के अनुरूप प्रतीत न हो या असत्य प्रतीत हों तो पूर्वाग्रहों को त्याग कर नवीन सत्याधारित धर्म चिंतन को स्वीकार करना चाहिये। पुरानी मान्यताओं में तदनुरूप संशोधन करना चाहिये।
- अनेकांत दृष्टि रखते हुए अन्य लोगों के विचारों में, ज्ञान में और धर्मों में भी सत्यता की संभावना को स्वीकार करना चाहिये। उनके प्रति सौहार्द व सहिष्णुता अपनानी चाहिये।
- धर्म समभाव के अंतर्गत विरोध की स्थिति में विवेकपूर्ण नम्रताभाव व सबके प्रति आदरभाव अपनाते हुए सत्य समन्वय के सूत्र अपनाये जाते हैं। इन समन्वय सूत्रों से आबद्ध धर्म समभाव का प्रमुख आधार चेतनात्मक एकता, अनासक्त (राग-द्वेष से परे, निष्पक्षता) एवं अन्य धर्मों के प्रति विवेकपूर्ण आदरभाव (समभाव) को माना गया है। अतः अगले अध्यायों में हम धर्म समभाव की अवधारणा के रूप में इन आधारों की चर्चा करेंगे।

तृतीय सोपान

पौर्वात्य धर्म एवं धर्म समभाव

विश्व में अनेक धर्म प्रचलित हैं। इन्हें मुख्यतया दो भागों में विभक्त कर समझा जा सकता है। प्रथम पौर्वात्य चिंतन परंपरा में विकसित धर्म जिन्हें प्रायः 'नॉन सेमेटिक' धर्म भी कहा जाता है। द्वितीय पाश्चात्य चिंतन परंपरा में विकसित धर्म जिन्हें 'सेमेटिक' या नबीमूलक/पैग़ंबरी धर्म भी कहा जाता है। हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि नॉन सेमेटिक धर्म तथा पारसी, यहूदी, ईसाई इस्लाम आदि सेमेटिक धर्म हैं।

विश्व के प्रमुख धर्मों में धर्म समभाव की अवधारणा को ठीक से समझने के लिये उनके प्रत्ययों एवं धर्म समभाव संबंधी चिंतन का सिंहावलोकन आवश्यक है। पौर्वात्य परंपरा में हिन्दू धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म का विशिष्ट स्थान रहा है। अतः इन्हें पौर्वात्य धर्म से संज्ञिप्त करते हुए धर्म समभाव की दृष्टि से हम इनका विवेचन करेंगे।

परंपरागत धर्मों में धर्म समभाव का यह अध्ययन दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो धर्म के मान्य प्रत्यय सिद्धांतों/तत्वों/धार्मिक मतों के आधार पर जो प्रायः सभी धर्मों में पाये जाते हैं। जैसे- परमसत्ता/परमतत्व, शरीरेत्तर चेतना/चेतनावाद, सृष्टि/जगत, बंधन व मोक्ष/मुक्ति आदि। द्वितीय-धर्म समभाव के मान्य आधारों यथा-चेतनात्मक आधार, राग-द्वेष से परे/अनासक्त/निष्पक्ष भाव के आधार पर तथा अन्य धर्मों/मतों के प्रति धर्म समभाव की अवधारणा के आधार पर। प्रस्तुत अध्याय में यथासंभव इन दोनों रूपों में धर्मसमभाव की तुलनात्मक विवेचना करेंगे।

3.1 हिन्दू धर्म :

भारत में विकसित हिन्दू धर्म की विश्व के प्राचीनतम धर्मों में गणना है। भारत के प्राचीन साहित्य में हिन्दू शब्द नहीं मिलता है। यह (हिन्दू) विदेशियों द्वारा दिया गया नाम माना जाता है।[1] प्राचीन स्तर के शास्त्रों में धर्म अथवा सनातन धर्म[2] का प्रयोग मिलता है। शब्दकोष के अनुसार सिंधु घाटी या इंडस घाटी अथवा हड़प्पा सभ्यता से हिन्दूवाद का प्रारंभ माना गया है।[3] अतः इसी से हिन्दू धर्म व हिन्दुत्व शब्द

---

1. Radhakrishanan, The Hindu View of Life, P. 12
2. मनु 4/138
3. Roger, A. Bullard (Edi.) Abingdon Dictionary of Living Religions.

का प्रयोग-प्रचलन माना जा सकता है। हिन्दू धर्म किसी विशेष व्यक्ति/ऋषि/प्रवर्त्तक या तीर्थंकर की देन नहीं है। यह अनेक ऋषियों, मुनियों, साधकों, आचार्यों की अनुभूतियों के आधार पर आध्यात्मिक, नैतिक व सामाजिक शिक्षाओं का समन्वय है।

महात्मा गांधी ने हिंदुत्व को अनेक धर्मों का संघ कहा है, जिसमें विभिन्न विश्वास, वचन और धार्मिक व्यवहार सम्मिलित किये गये हैं।[4] एनी बिसेंट डॉ. राधाकृष्णन् आदि हिन्दू धर्म में अध्यात्म धर्म व जीवन दोनों का समन्वय मानते हैं।[5] अन्य चिंतकों के अनुसार भी यह जीवन की पद्धति प्रस्तुत करने के साथ ही साथ एक संगठित धर्म भी है।[6] अतः इसे सनातन धर्म भी कहा गया है। सनातन धर्म का अर्थ है नित्य अर्थात् जो सदा बना रहे और अनादि काल से चला आ रहा हो।[7] हिन्दू धर्म में देशकाल परिस्थितियों के आधार पर धर्म की भिन्न-भिन्न साधना प्रणालियों, आचार संहिताओं आदि का विकास हुआ है। अतः वास्तव में इसे मानव जीवन में धर्म के विकास की एक अविच्छिन्न परंपरा की ऐतिहासिक परिणति कहा जा सकता है।[8] इस (हिन्दू धर्म) धर्म में अनेक संस्थागत धर्म समावेशित हैं। इसकी अनेक संस्थाएं एवं विधियां है। यथा निर्गुण (अद्वैतवाद), सगुण (साकारवाद), शैव, शाक्त, वैष्णव आदि जो भिन्न-भिन्न हैं। ये भिन्न-भिन्न विश्वास मार्ग भी एक लक्ष्य की प्राप्ति के भाव को स्पष्ट करते हैं और वह है परमसत्ता का अनुभव व बोध, एवं सत्य की प्राप्ति।[9] अतः इसे किसी एक ही प्रवर्तित (व्यक्ति विशेष द्वारा संस्थापित) धर्म विशेष के रूप में मान कर नहीं समझा जा सकता है[10] और न ही इसकी आसानी से संकुचित भाव द्वारा आलोचना-प्रत्यालोचना ही की जा सकती है।

यह अत्यंत ही व्यापक एवं विस्तृत समन्वयात्मक धर्म परंपरा है। यह परमत्व के स्वरूप की

---

4. Seshgiri, K.L., Mahatama Gandhi and Comperative Religion, P. 13
5. Besant, Annie, Seven Great Religions, P. 5-6; Radhakrishanan. The Hindu View of Life, P. 13
6. 'Hinduism is in fact, both a way of life and a highly organized social and religious system.' -Zaechner, R.C., Hinduism, P. 1

   'Hinduism really stand for both and should, therefore, be taken to both the Hindu view and way of life. As such Hinduism is identical with Hindu Religion.' -Chatterjee, S.C., The Fundamentals of Hinduism-A Philosophical study, P. 1 ; सत्यभक्त, धर्म समीक्षा, पृ. 7
7. सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, धर्म दर्शन की रूपरेखा, द्वि. खं. पृ. 94
8. भंडारकर, जी.आर., वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, प्रस्तावना, पृ. 5
9. Chatterjee, S.C., The Fundamentals of Hinduism : A Philosophical study, P. 3-4
10. Devaraj, N.K., Hinduism and Christianity, P. 15-16

सगुणता एवं निर्गुणता दोनों को मानता है[11] तथा भक्ति, भावना, समर्पण और विश्वास के साथ तर्क, युक्ति व ज्ञान–इन दोनों विधाओं को अपने में समावेशित करता है।

1. ऐतिहासिक स्वरूप :

हिन्दू धर्म का प्रारंभ कब हुआ इसका निर्धारण करना कठिन है। हिन्दू सभ्यता का पता सिंधुघाटी से ही लगता है। पुरातत्वविदों के अनुसार सिंधुघाटी सभ्यता को कम से कम 3250 वर्ष ईसा पूर्व होना चाहिये।[12] इस आधार पर हिन्दू धर्म की प्राचीनता इससे भी अधिक होनी चाहिये क्योंकि यह काल निर्धारण सिंधुघाटी सभ्यता के उपलब्ध पुरातन नरावशेष[13] मोहनजोदड़ों की खुदाई पर आधारित है। इस सिंधुघाटी सभ्यता को आधुनिक भारतीय संस्कृति के लिये आधार प्रस्तुत करने वाली सभ्यता कहा गया है।[14] किंतु इस आधार पर न तो हमें हिन्दू धर्म के प्रारंभिक स्वरूप का ही बोध होता है और न ही यह सिद्ध होता है कि इस धर्म की प्राचीनता मात्र 3250 वर्ष ईसा पूर्व है।

मोहनजोदड़ों सभ्यता तो पर्याप्त विकसित सभ्यता है और उक्त उल्लेखों से यही स्पष्ट होता है कि सिंधुघाटी सभ्यता के समय वास्तुकला एवं मूर्तिकला पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। व्यक्ति अपने विचारों को इस कला के माध्यम से स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान करने में सक्षम था। विशेष वातावरण के साथ अपने जीवन का सफल समायोजन कर सकता था। अतः हिन्दू धर्म के आधारभूत स्वरूप की प्राचीनता का, इस काल निर्धारण (3250 ई. पूर्व) से भी कहीं अधिक प्राचीन होने का अनुमान किया जा सकता है। इसलिये हिन्दू धर्म की प्राचीनता का निर्धारण पूर्ण निश्चित रूप में कर पाना अत्यंत ही कठिन है। इस धर्म के काल निर्धारण करने की अपेक्षा इसे अब तक की धर्म मान्यताओं की तुलना में प्राचीनतम धर्म की संज्ञा देना अधिक उचित प्रतीत होता है। यही कारण है कि मैक्समूलर भी इसे (हिन्दू धर्म) प्राचीनतम धर्म की ही संज्ञा देते हैं।[15]

2. साहित्य

हिन्दू धर्म का आधारभूत साहित्य कोई एक विशेष धर्मग्रंथ के रूप में नहीं है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, महाकाव्य (रामायण व महाभारत), भगवद्गीता, स्मृति, पुराण ग्रंथ हिन्दू धर्म के वाङ्मय हैं। वेद संहिताएं हिन्दू धर्म के सर्वाधिक प्राचीन व महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसलिये जर्मन चिंतक

---

11. बृह. उप., 4/3/37; छांदो. उप., 6/2/12
12. Marshal, John, Mohanjodaro and The Indus Civilization, Part 1, P. 52-53
13. Ibid, P. 52-53
14. (Prof.) Chaild, New Light on the Most ancient east, P. 220
15. Maxmullar, Origin and Groth of Religion, Hindi Anuvad, P. 105

मैक्समूलर लिखते हैं कि वैदिक साहित्य का विकास ऐतिहासिक है। कोई भी साहित्य इतना प्राचीन नहीं है जितना कि ऋग्वेद के मंत्र, यह बात केवल भारत पर ही नहीं, सारे आर्य जगत पर लागू होती है और 'जहां तक हम भाषा और विचारों की दृष्टि से आर्य हैं वहां तक ऋग्वेद भी हमारा प्राचीनतम ग्रंथ है।'[16]

वेदों के रचनाकाल के संबंध में मत वैभिन्य पाया जाता है। विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से गणना कर इसके सूक्तों/मंत्रों का काल निर्धारण किया है।[17] अतः इसके रचनाकाल एवं प्राचीनता के संदर्भ में कोई एक निश्चित मत नहीं है। ऋग्वेद के संबंध में मात्र यही कहा जा सकता है कि यह प्राचीनतम ग्रंथ है। वेद चार हैं-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ऋग्वेद में दिव्य गीतों का संग्रह है, सामवेद व यजुर्वेद में कर्मकांड (यज्ञ, अनुष्ठान) के मंत्र और अथर्ववेद जो कालांतर की रचना मानी जाती है[18] में देवी-देवताओं की पूजा चमत्कारपूर्ण मंत्र, तंत्र, जादू, शास्त्रोक्त विधियां (Rituals) आदि हैं।[19]

ऋग्वेद यजुर्वेद एवं सामवेद परस्पर आकृति, भाषा एवं अंतर्निहित विषयों में एक समान माने गये हैं।[20] प्रत्येक वेद के तीन भाग है - मंत्रसंहिता (मंत्रों/ऋचाओं/सूक्तों का संग्रह), ब्राह्मण (उपदेश एवं धार्मिक कर्त्तव्य विधान), आरण्यक व उपनिषद (आरण्यक-ब्राह्मणों के विहित कर्मकांड व उपनिषदों के दार्शनिक ज्ञान/चिंतन-मनन की मध्यवर्ती शृंखला के रूप में है व उपनिषद्-दार्शनिक समस्याओं की विवेचना) है।[21] प्रधान ग्रंथ ऋग्वेद में 1017 ऋचाएं/सूक्त हैं, ये 10,600 स्तवकों में तथा दस मंडलों में विभक्त हैं।[22] इनमें प्रकृति-पूजा, बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद के काव्यमय उद्गार अभिव्यक्त

---

16. वही, पृ. 105

17. मैक्समूलर : वैदिक ऋचाओं का रचनाकाल 1500 ई.पू. से 1200 ई.पू. के मध्य है।

-Maxmular, Chips i and ii; वेबर : 1600 ई.पू. मानते हैं -Weber, History of Indian literature, P. 2; हॉग : 2400 ई.पू. से 1400 ई.पू. मानते हैं। -Haug, M., Introduction to Aitareya Brahman, 1 Lession, P. 47 व्हीटनी : 2000 ई. पू. से 1400 ई.पू. तक मानते हैं -Whitini, Oriental and Linguistic Studies, P. 21; वर्मा, सांवलिया, बिहारीलाल : कम से कम 4000 ई.पू. माना जाना चाहिये-विश्व धर्म दर्शन, पृ. 14-15; जैकोबी : यह काल 4500 ई. पू. तथा राधाकृष्णन् : 1500 ई. पू. मानते हैं-राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, पृ. 53, 47

18. राधाकृष्णन्, -भार. दर्शन, भाग 1, पृ. 50-51

19. वही, पृ. 95, 97-98; रानाडे, रामचंद्र दत्तात्रेय, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ. 3-4

20. वही, पृ. 50

21. वही, पृ. 51-52

22. वही, पृ. 53

हुए हैं।[23] ये किसी जाति विशेष के पुरोहितवाद से रहित, सरल, सहज व नम्र मानवीय भाव से की गयी प्रार्थनाएं हैं।[24]

ब्राह्मण ग्रंथों का रचनाकाल प्रायः ऋग्वेद सूक्तों के संग्रहकाल में अथवा उनके बाद के काल में रचित होना स्पष्ट होता है। यह मानने का आधार यह है कि ऋग्वेद के सूक्तों व अन्य वेद तथा ब्राह्मणों ग्रंथों के काल में कोई स्पष्ट विभेदक रेखा नहीं खींच सकते क्योंकि परवर्ती वेदों एवं ब्राह्मणों के समय जो प्रवृत्तियां सुव्यक्त रूप से दृष्टिगोचर होती हैं वे ऋग्वेद के सूक्त-निर्माण काल में भी थी।[25] इससे यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण ग्रंथों के भी प्राचीन होने से इनके रचनाकाल का निर्धारण कठिन है। अतः इन्हें वैदिक सूक्तों के संग्रहकाल में अथवा उनके बाद के काल में रचित मानना उचित प्रतीत होता है। ब्राह्मण ग्रंथ कई हैं, उनमें से ऐतरेय, शतपथ आदि प्रमुख है। याज्ञिक अनुष्ठान-विधान, दंत-कथाएं, वेदानुशासन रूढ़ि, जात-पांत (ऊंच-नीच), पुरोहित वर्ग की श्रेष्ठता, आश्रम व्यवस्था आदि इस युग की देन है। कारण यह कि वेदों में कर्मकांड, विधि-विधान, जाति-पांति, ऊंच-नीच आदि को मान्यता नहीं दी गयी हैं। उनमें जाति विशेष के पुरोहितवाद को अस्वीकार करते हुए सरल, सहज व नम्र मानवीय भाव से की गयी प्रार्थनाएं है।[26]

हिन्दू धर्म के दार्शनिक ग्रंथों के रूप में उपनिषदों, का महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें वैदिक शिक्षाओं का सार आत्मज्ञान व तत्वज्ञान अंतर्निहित है। साधारणतया 108 उपनिषद माने गये हैं[27], पर इनके अतिरिक्त भी अनेक उपनिषद होने की सूची अड्यार (मद्रास) से प्रकाशित उपनिषदीय ग्रंथ सूची में उपलब्ध होती है।[28] अतः उपनिषदों की निश्चित संख्या की प्रामाणिकता के संदर्भ में कुछ कहना एकांगी होगा। विद्वानों ने प्रारंभिक उपनिषदों का रचनाकाल 1000 ई.पू. से लेकर 300 ई.पू. तक माना है। कुछ परवर्ती उपनिषदों को बौद्धकाल के बाद लगभग 400 या 300 ई.पू. का माना है।[29] सबसे पुराने उपनिषद्

---

23. ऋग. 7/60, 63; 4/54/3; 1/89; 2/6; 9/1; 5/83; 10/75, 2, 4, 6; 1/164, 46; 10/114; Duson, Paul, Outlines of Indian Philosophy, P. 13

24. ऋग. 7/103, 1, 7, 8; 10/88; 1/117, 2; 2/35, 2; 10/67, 1

25. राधाकृष्णन्, भार. दर्शन, भाग 1, पृ. 100

26. ऋग. 1/117; 2/35, 2; 6/47, 3; 7/103, 1, 7, 8; 10/88; 10/67, 1

27. राधाकृष्णन्, भार. दर्शन, भाग 1, पृ. 114, रानाडे, रामचंद्र दत्तात्रेय, उपनिषदें का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ. 306

28. रानाडे, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ. 306

29. राधाकृष्णन्, भार. दर्शन, भाग 1, पृ. 114

संप्रदाय, भेदभाव आदि से रहित हैं। बृहदार्ण्यक, छांदोग्य, ईश, केन, एतरेय, तैत्तिरीय, कौषीतकी, कठ, मुंडक, श्वेताश्वतर, प्रश्न, मैत्री और मांडूक्य उपनिषद् प्राचीन स्तर के उपनिषद् माने गये हैं।[30] इनके रचियताओं के संबंध में प्रामाणिक विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। उनमें आये ऋषियों के नामों से अनुमान मात्र ही किया जा सकता है।

हिन्दू धर्म के उपर्युक्त साहित्य के अतिरिक्त महाकाव्य-रामायण, महाभारत, स्मृति शास्त्र, पुराण शास्त्र, भगवद्गीता आदि भी प्रमुख धर्म साहित्य हैं।[31] हिन्दू धर्म में विभिन्न कालों में अथवा इनके समानान्तर रूप से विकसित हुए षड् दर्शन (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदांत) हिन्दू धर्म के दार्शनिक ग्रंथ हैं जिनमें परमसत्ता/ईश्वर, आत्मा, जगत, ज्ञान, कर्म आदि पर दार्शनिक सिद्धांतों के रूप में चिंतन हुआ है।

3. धार्मिक प्रत्यय :

क. परमसत्ता/परमतत्व :

हिन्दू धर्म में परमसत्ता/परमतत्व का विचार वेदों से निःसृत है।[32] इस धर्म में परमसत्ता को ईश्वर/परमात्मा/ब्रह्म आदि से संबोधित किया है। यह धर्म परमात्मा को आत्मा से वृहद, भिन्न और

---

30. रानाडे, उपनिषद्ों, का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ. 9, 11-12

31. रामायण की घटनाएं महाभारत युद्ध के पूर्व काल (वैदिक काल) की हैं तथापि वाल्मीकी रामायण का रचनाकाल महाभारत के रचनाकाल के बाद का बताया गया है।-राधाकृष्णन्, भार. दर्शन, भाग 1, पृ. 395, 219;-महाभारत भी वैदिक काल की महत्वपूर्ण घटना है जो ईसा पू. लगभग 13वीं/12वीं शताब्दी मे लड़ा गया था - दत्त. आर.सी. एवं प्रेट, उद्धृत-राधाकृष्णन्, भार. दर्शन, भाग 1, पृ. 391; यह काव्य ग्रंथ व्यास द्वारा लगभग 1100 ई.पू. रचा गया होगा यह अनुमान है-राधाकृष्णन्, वही पृ. 392-393; स्मृतियां कई है–याज्ञवल्क्य, गौतम, मनु आदि। मनु द्वारा रचित मनु स्मृति एक सामाजिक, नैतिक नियमों का विधान है। इसके रचनाकाल के संबंध में भी विद्वान एकमत नहीं है। देखिए, वही, भार. दर्शन पृ. 421; पुराण : 18 पुराण हैं। इनमें ब्रह्मा, विष्णु, राम, कृष्ण, शिव आदि की प्रायः अवतार कथाएँ हैं तथा उन अवतार कथाओं के आधार पर ही इनके नाम रखे गए हैं जैसे- विष्णु पुराण, नारद पुराण, वाराह पुराण, मत्स्य पुराण आदि; भगवद्गीता : महाभारत युद्ध में कृष्ण द्वारा युद्ध विमुख हुए अुर्जन को कर्म प्रेरणा के लिये दिया गया उपदेश है। यह भीष्मपर्व का एक भाग है।

32. ऋग., 10/129

स्वतंत्र मानता है।[33] उससे ही जड़-चेतन की सृष्टि, स्थिति व लय है।[34] इस प्रकार हिन्दू धर्म में सृष्टि की प्रवृत्ति और निवृत्ति-दोनों परमात्मा के अधीन मानी गई हैं। इस परमसत्ता को विश्व के सृष्टा के रूप में ब्रह्मा, पालनकर्त्ता के रूप में विष्णु तथा संहारक के रूप में महेश (रूद्र) भी कहा गया है।[35]

---

33. वही, 10/121; 'अव परेण पर एनावरेण' (वह आत्मा इस दृश्यमान जगत् (अवरेण) से बड़ा है और उस परमात्माः (परेण) से छोटा है)। वही, 1/164/17-18; छांदो, उप., 6/3/2; परमात्माः अहंमात्माऽऽमनां', भाग., 3/8/41

34. 'त्रिपादूर्ध्व ऽउदैत्पुरूषः पादोस्येहाभवत् पुनः। ततो विष्वङ्. व्यक्रामत्साशनानशनेअभि।' (सृष्टि की रचना व विकास उस परिपूर्ण पुरुष (ईश्वर) का एक अंश माना गया है व उससे जड़-चेतन विश्व की उत्पत्ति हुई है)। यजु., 31/4

    'स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्योश्च भूमिश्च तिष्ठतः। स्कंभ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणिन्निमिषच्च यत्।' -अथर्व, 10/8/2

    'यतो वा इमानि भूतानि जायंते। येन जातानि जीवंति। यत्प्रपन्त्यभि अभिसंविशंति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।' तैत्ति. उप., 3/1

    'तज्जलानिति शान्त उपासीत्' -(ब्रह्म से ही इस जगत का उद्भव है, उसी में इसकी स्थिति है और अंत में उसी में उसका निलय होता है)। छांदो, उप; 3/14/1

    'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।

    इति मत्वा भजंते मां बुधा भावसमन्विताः।।' - गीता 10/8

    'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणित्युपधारय।

    अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथाः।।' - वही, 7/6

    'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्म वह, जिससे इस जगत् का जन्म, धारण और विनाश होता है।) - वेदा, सू, 1/1/2

    शैवमतः रहस्य पंचदशिका, 7/15; प्रत्यभिज्ञा हृदय सूत्र, मंगलाचरण 4, सूत्र 10,5 5

    विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगतत्रेव च स्थितम्।

    स्थिति संयम कर्तासौ जगतोऽस्य जगच्च सः।। - विष्णु पु., 1/1/31

    'योऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।

    अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत।।' मनु., 1/8

    'गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव निविशन्ति च' - महाभा., शांतिपर्व, 305/23; भाग. पु., 2/2/15-16

35. महाभा., वनपर्व, 3/189/5; श्वेता उप., 3/2 'सृष्टि स्थित्यंत करणीम् ब्रह्मा विष्णुशिवाभिधाम्।

    स संज्ञा याति भगवान् एक एव जनार्दनः।।' - विष्णु पु., 1/2/4

हिन्दू धर्म का मूल स्वरूप एकेश्वरवादी/एकत्वादी है। इसके अनुसार एक मूल तत्व अपने में सब कुछ समावेशित करता है, अतः इसमें सर्वेश्वरवादी लक्षण भी दृष्टिगत होते हैं। कहा है कि 'एक सत्स्वरूप परमेश्वर को बुद्धिमान ज्ञानी लोग अनेक प्रकारों से-अनेक नामों से पुकारते हैं। उसी को वे अग्नि, यम, मातरिश्वा, इंद्र, वरूण, दिव्य, सुपर्ण, गरूत्मान् इत्यादि नामों से याद करते हैं।'[36] वह सर्वव्यापक है, एक ही है। उसे दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवा, छठा, सातवां, नौवां व दसवां नहीं कहा जा सकता। वह एक है और एक ही है। एक होकर वह सर्वव्यापक और प्राणी-अप्राणी सबको विशेष रूप से पूर्णतया देखने वाला (सर्वदृष्टा) है।[37] वह विश्व का पिता, माता, भ्राता, सखा, बंधु एवं जनिता कहा गया है।[38] वह परम यथार्थ सत्स्वरूप[39], आनंद स्वरूप[40], सर्वशक्तिमान[41], सर्वाधार[42], निर्विकार[43], निराकार[44], अनादि[45], अनंत[46],

---

36. 'इंद्रम मित्रं वरूणमग्निमाहुरयो दिव्य; स सुपर्णो गरूत्मान् एवं सद्विप्रा बहुधा वदत्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।' - ऋग., 1/164/46; यजु., 32/1

37. 'न द्वितीयो न तृतीयचतुर्थो नाप्युच्यते। 'न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।। नाष्टमो न नवमों दशमो नाप्मुच्यंते। स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणति यच्च न। तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव। सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति। य एतं देवमेकवृतं वेद ॥' - अथर्व., 13/5/3-5

38. त्वं पितासि नः। - ऋग., 1/31/10

    आपि पिता प्रमतिः..... मर्त्यानाम्। - वही, 1/31/16

    अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षदितिर्माता स पिता स पुत्रः। - वही, 1/89/10; अथर्व., 7/6/1

    सखा पिता पितृतमः पितृणां। - वही, 4/17/17

    योनः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

    यो देवानां नामधा ऽएक ऽएव तथं संप्रश्नं भुवना यंत्यन्या।। - यजु., 17/27; ऋग., 10/82/3; पिता देवानां जनिता विभूवसुः। - ऋग., 9/86/10

39. ऋग., 1/164/46

40. अथर्व., 10/8/1

41. अर्चा शक्राय शाकिने.....। - ऋग., 1/54/2

42. स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् .....। - वही, 10/121/1

43. अव्रणम। - यजु., 40/8

44. न तस्य प्रतिमा अस्ति। - वही, 32/3

45. जनुषा सनादसि। - साम., 4/6/1

46. अनंत विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते। - अथर्व., 10/8/12

नित्य[47] पवित्र[48], दयालु[49], न्यायकारी[50], सर्वांतर्यामी (सवज्ञ)[51], सृष्टिकर्त्ता[52] माना है। इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म परमसत्ता/ईश्वर/परमात्मा को निश्चयपूर्वक एक एवं सर्वव्यापी मानता है।[53]

वैदिक संहिताओं में प्रकृति की शक्तियों का मूर्तरूप में मानवीकरण एवं अनेक देवताओं यथा- अग्नि, इंद्र, सूर्य, वरुण, मरुत, मित्र, विष्णु आदि में विश्वास व यज्ञोचित उपासना का विवरण उपलब्ध होता है।[54] अतः विद्वानों की सम्मति में वैदिक धर्म में बहु-ईश्वरवाद या अनेकेश्वरवाद के होने का यह प्रतिपादन किया गया है कि 'ऋग्वेद' का धर्म प्रधानतया मूल रूप में अनेकेश्वरवादी है, जो अंत के थोड़े से सूक्तों में सर्वेश्वरवाद का रंग पकड़ लेता है, तो भी आशातीत रूप से कुछ सूक्तों में गंभीर दार्शनिक चर्चा छिड़ जाती है जो उस लंबी यात्रा का स्मरण कराती है जो प्रारंभिक अनेकेश्वरवाद से क्रमबद्ध दर्शन की ओर प्राकृतिक अनेकेश्वरवाद, एकेश्वरवाद और एकत्ववाद (अद्वैतवाद) की मंजिलों से गुजरते हुए की गयी है।[55]

---

47. सनातनम। - वही, 10/8/23. महाभा., शांतिपर्व, 162/10
48. शुद्धम.....। -ऋग., 8/95/7
49. दयसे वि वाजान्। - यजु., 33/18
50. सोऽर्यमा। - अथर्व., 13/4/4
51. स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु। - यजु. 32/8
52. य इदं विश्वं भुवनं जजान। - अथर्व., 13/3/15

    य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशदभुवनानि विश्वा। - ऋग., 10/110/9
53. ऋग., 10/90/1-2; 10/81/3; 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' - छांदो, उप., 3/14/1; 'अहमेव इदं सर्वम्' - वही, 5/2/6; 'तद्व एक आहुरसदेवमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम् तस्मादसतः सज्जायतः।' - वही, 6/2/1; 'इदं अमृतं, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम्' - बृह उप., 2/5/1; 3/9/1; 1/4/6, 7, 10; गीता, अध्याय 10, 11; 15/12-14; श्वेता. उप., 3/2
54. ऋग., 7/1/1; 7/3/9, 7/75/3; 7/49/3; 8/40/3, 1/116/16; 7/75/5; 7/78/3; 7/60/2; 7/63/3 आदि
55. 'It has been generally hold that theRigvedic religion is essentially polytheistic one taking on pantheistic colouring in a few of its latest hymns. Yet a deeply abstract philosophizing crops up unexpectedly in some hymns as a reminder of the long journey made from primitive polytheism to systematic philosophy, through the stage of Naturalistic polytheism, monotheism and monoism.' The Vedic Age, P. 378

किंतु मैक्समूलर व काएगी के अनुसार वैदिक धर्म में उपास्य श्रेष्ठतावाद का प्रतिपादन होता है न कि अनेकेश्वरवाद का।[56] इस मत के अनुसार प्रत्येक वैदिक उपासक जब जिस भी दैव[57] अथवा देवता- अग्नि, वरूण, अश्विनी, सूर्य, विष्णु, इंद्र, मित्र आदि की स्तुति करने लगता, तब उसी दैव को सर्वोत्कृष्ट बताने के लिये समर्पित भाव से सब गुणों और उत्कृष्टताओं को उसमें (दैव में) समाविष्ट करने का प्रयत्न करता था। काएगी इस वैदिक दैववाद को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'जो देवता सम्मुख है वही ऋषि के मन में उपस्थित रहता है। उस समय के लिये ऐसी प्रत्येक बात जो, दिव्य शक्ति के विषय में कही जा सकती है, उस देवता के साथ जोड़ दी जाती है। वही सर्वोच्च है, वही केवल देवता है, उसके आगे सभी देवता लुप्त हो जाते है परंतु फिर भी इस बात से अन्य देवता का अपकर्ष या अपमान नहीं माना जाता।'[58] मैक्समूलर भी यही मानते हैं।[59]

यह ठीक है कि वेदों में अनेकेश्वरवाद या प्रतिपादन नहीं है। परंतु गहन अध्ययन करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदों में बहुदेववाद और उपास्य श्रेष्ठतावाद की स्वीकृति भी बहुत अधिक तर्कसंगत नहीं है। वैदिक संहिताओं में आये विभिन्न देवतावादी सूचक शब्द वस्तुतः उस एक परमेश्वर के भिन्न-भिन्न गुणों को सूचित करने वाले नाम प्रतीत होते हैं जो परमात्मा या परमेश्वर के अनेक रूपों और गुणों का स्मरण कराते हैं।

'आचार्य यास्क ने देव शब्द की निरूक्ति दा, द्युत दीप् और दिवु, इन धातुओं से की है। इसके अनुसार ज्ञान, प्रकाश, शांति, आनंद तथा सुख देने वाली सब वस्तुओं को देव के नाम से कहा जा सकता है। यजुर्वेद में अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, वसु, रूद्र, आदित्य, इंद्र इत्यादि को देव नाम से पुकारा गया है। देव शब्द का प्रयोग सत्यविद्या का प्रकाश करने वाले सत्यनिष्ठ विद्वानों के लिये भी होता है, क्योंकि वे ज्ञान का दान करते हैं और वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को दीपित (प्रकाशित) करते हैं। 'दिवु क्रिडाविजिगीषा व्यवहार-द्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' इस धातु से जब देव शब्द बनाया जाता है तो उसका प्रयोग जीतने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों – विशेषतः वीर क्षत्रियों, परमेश्वर की स्तुति करने वाले तथा पदार्थों का यथार्थ रूप से वर्णन करने वाले विद्वानों (विशेषतः ऋत्विजों), ज्ञान देकर मनुष्यों को आनंदित करने वाले सच्चे ब्राह्मणों या प्रकाशक सूर्य, चंद्र, अग्नि विद्युदादि वस्तुओं और कहीं-कहीं

---

56. Max Mullar, Origin and Growth of Religion, Hindi Trans. Brahmdixit, P. 134-140; Kaegi, The Regveda, P. 33

57. ऋग., 7/1/1, 7/3/9, 7/6/4, 7/15/4, 8/41/3, 7/49/3, 1/116/16, 1/117/17, 1/118/8

58. Kaegi, The Rigveda, p. 33

59. Max Mullar, Origin and Growth to Religion, p. 140

8—259 Min. of H.R.D./2005

सत्य व्यवहार करने वाले वैश्यों के लिये भी हो जाता है। इसके स्पष्ट प्रमाण वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण गंथों में भी पाये जाते हैं।'[60]

स्वामी दयानंद और महर्षि योगी अरविंद आदि भारतीय मनीषियों ने वेद में अनेकेश्वरवाद अथवा बहुदेवतावाद एवं उपास्य श्रेष्ठतावाद का प्रबल खंडन किया है।[61] अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी वैदिक धर्म एवं दर्शन में एकेश्वरवाद अथवा एकतत्ववाद का स्पष्ट प्रतिपादन किया है।[62] अतः हिन्दू धर्म का मूल स्वरूप एकेश्वरवादी अथवा एकत्ववादी होने के साथ-साथ सर्वेश्वरवादी भी है क्योंकि वह संपूर्ण सृष्टि को ईश्वर से उत्पन्न मानता है। अतः इस सृष्टि में अथवा जगत में (सर्वत्र) ईश्वरत्व है।

इस धर्म में ईश्वर को परमसत्ता मानते हुए उसके दो रूप-निर्गुण रूप (निराकार, निर्विकार, अव्यवहार्य, अचिंत्य)[63] और सगुण रूप (साकार, स्वामी, उत्पादक, सृष्टिकर्ता, संहारकर्ता, उपास्य)[64] माने

---

60. (पं) विद्यामार्तण्ड, धर्मदेव, वेदों का यथार्थ स्वरूप, पृ. 137-138

61. 'An interpretation of Veda must stand or fall by its central conception of the Vedic religion and the amount of support given to it by the intrinsic evidence of the Veda itself. Here Dayanand's views is quite clear, its foundation inexpungable. The Vedic hymns are chanted to the one Deity under many names, names which are used and even designed to express his qualiteis and powers. The Vedic Rishi ought surely to have known someting about their own religion, more, let us hope, than Roth or Max Mullar and this is what they know.' -Aurbindo, Dayanand and the Veda, P. P. 17-18.

62. 'The Almighty, Infinite, Eternal, Incomprehesnsible, self-existant being, the who sees everything, though never seen is Brahma & the one unknown True being, the creator, preserver and destroyer of the universe under such and innumerable other definition is the Deity acknowledged in the Vedas.' - Coleman, Charles, Mythology of the Hindu;' It (Vedic religion) recognises but one god.' -Brown, W.D., Superiority of the Vedic Religion. 'It cannot the denied that the early Indians possessed a knowledge of the true God.' - Schlegal, Wisdom of the Ancient Indians.

63. 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।। नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानधनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यहार्यमग्राह्यमलक्षणम् चिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शांतं शिवमद्वैतं चतुर्थ मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।।' -माण्डू. उप., 6-7; बृह. उप., 3/8/8; कठ, उप., 1/3/15; मुण्डक. उप., 1/1/6

64. 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीश पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदाविद्वान पुण्यपापे विधू। निरंजनः परमं साम्यमुपैति।।' (जब भक्त रुक्मवर्ण पुरुष का दर्शन करता है जो सर्वकर्त्ता, सर्व नियंता तथा विश्व का मूल कारण है तो समस्त पाप-पुण्यों का परित्याग करके, उनसे मुक्त होकर निरंजन ब्रह्म से तद्रूप हो जाता है)। -मुंडक. उप., 3/1/3, 3/2/6; श्वेता. उप., 3/2/3, गीता, 12/11-7; 4/1-18; 9/17; 19, 24

गये हैं। परमसत्ता के निर्गुण रूप को नेति नेति[65] के रूप में स्पष्ट करते हुए उसमें सभी विवेच्य गुणों का निषेध किया गया है तथा उसे ब्रह्म कहा गया है।[66]

ईश्वर के सगुण रूप के अंतर्गत दुष्टों को दंड एवं सज्जनों की रक्षा करने की भावना में ईश्वर का कर्मफलदाता का रूप प्रकट होता है।[67] पर यह रूप अदृष्ट को केवल संभव बनाता है।[68] कालांतर में हिन्दू धर्म में–महाकाव्य एवं पौराणिक युग में अवतारवाद की धारणा विकसित हुई। इससे पूर्व वैदिक धर्म में ईश्वर के अवतार की शृंखला नहीं मिलती है। जिन देवों को वैदिक ग्रंथों में यज्ञ के समय संबोधित करके हवि दी जाती थी वे ही बाद में अवतार लेने वाले देवताओं के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। यह वेदों एवं पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है। वैदिक विष्णु[69] को पुराणों एवं महाकाव्यों में सूर्य से पृथक सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ देवता के रूप में मानते हुए उसे अवतार धारण करने वाला माना गया है।[70] विभिन्न अवतारों के रूप में ईश्वर के द्वारा वैयक्तिक शरीर ग्रहण करना और भक्त की उसके प्रति श्रद्धा ही भक्ति का प्रमुख आधार है। यह भगवान (ईश्वर के लिये ही प्रयुक्त किया जाने वाला शब्द) एवं भक्त के द्वैतभाव को भुला देता है।[71] उसके (भगवत्तता) प्रति आत्मसमर्पण और निष्ठा के भाव उत्पन्न होते हैं। अवतार की अवधारणा में धर्म की व नैतिकता की रक्षार्थ, पापों का विमोचन करने हेतु भगवान पृथ्वी पर जन्म लेता है[72] का भाव प्रमुख है।

---

65. अथात आदेशः नेति नेति। 'न' हि एतस्मादिति 'न' इति अन्यत्परमस्ति।' ब्रह. उप., 2/3/6
66. तेजोमयोऽतेजोमयः कामयमोऽकामयं, क्रोधमयोऽक्रोधमयः, धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमय तद्ददेतत् इदं मयोऽदोमयः।। वही, 4/4/5; महाभा., शांतिपर्व, 339/21-38
67. गीता, 4/6/7; निंबार्क, वेदांत पारिजात सौरभ, 2/3/23-29, 1/1/2, 4, 10, 12
68. राधाकृष्णन्, भार. दर्शन, भाग 2 पृ. 166
69. ऋग., 1/155/6; 7/99/4-5
70. गीता, 10/20-37; भाग. पु., 9/9/50; हरिवंश पु., 4004; वायु पु., 97/72; 98/63
71. भक्तिरत्नावली, 16; विष्णु पु., 3/7
72. 'यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतामं।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।।' - गीता, 4/7-8
'यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः। तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः।।'-भागवत, 9/24/56

हिन्दू धर्म की यह विचारणा दिव्य ईश्वरीय सत्ता का पृथ्वी पर मनुष्य के मार्गदर्शन के लिये जन्म लेने या उतरने को स्वीकार करती है। यह (अवतार) मानवीय संसार में भगवान का अवतरण है जो मानवीय आत्माओं को अपने अनेक कार्यों से ऊपर उठाने में सहायता करता है किंतु इस अवतार की धारणा में भी उन सबको (अवतारों को) एक ही सत्ता के रूप में माना गया है। इसके लिये कहा गया है कि 'विष्णु शिव है और शिव विष्णु है जो समझता है कि वे अलग-अलग हैं, वह नरक में जाता है।[73] अतः ईश्वर के अनेकेश्वर रूप मानना हिन्दू धर्म में साधना के लिये साधन अथवा अवलंबन मात्र है। साधना अथवा लक्ष्य तो आध्यात्मिक उपलब्धि द्वारा एक ही सर्वोपरि आत्मा/परमतत्व को जानना है जो अपने मूल तत्व स्वरूप में निर्गुण, निराकार, अपरिणामी है, निरपेक्ष एवं परमसत्य है। इसी परमसत्य को कहीं पर ईश्वर कहकर ईश्वरवाद का प्रतिपादन किया गया है[74] तो कहीं पर मात्र प्रकृति और पुरुष मानकर परमतत्व के अनीश्वरवादी रूप का प्रतिपादन किया गया।[75] ईश्वरवाद एवं अनीश्वरवाद दोनों विचारधाराएं तत्वज्ञान को ही सर्वोपरि मानती हैं।

ख. शरीरेतर चेतना :

हिन्दू धर्म में पंचधात्विक[76] (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) देह के साथ ही चेतना का विचार पाया जाता है। इस चेतना के संबंध में प्रथम संकेत वेद में प्राप्त होता है। कहा है कि 'जो कुछ हुआ है, होने वाला है सो सब ईश्वर ही है क्योंकि प्राणियों के भोग्य के निमित्त वह अपनी कारणावस्था को छोड़कर जगद्वस्था को प्राप्त करते हैं,..... उन आदि पुरुष से विराट् (ब्रह्माण्ड देह) उत्पन्न हुआ और ब्रह्माण्ड देह का आश्रय करके जीवन रूप से पुरुष उत्पन्न हुए। वे देव, मनुष्य इत्यादि के रूप में उत्पन्न हुए। उससे भूमि बनी। उसी ने जीवों के शरीर बनाये।'[77] इस जीव को ही बाद में प्राण[78] और आत्मा[79]

---

73. हरिरूपी महादेवी लिङ्गरूपी जनार्दनः।
    ईषदप्यन्तरं नास्ति भेदकृन्नरकं व्रजते।।-बृहन्नारदीय, उद्धृत-राधाकृष्णन्, भगवद्गीता, पृ. 148
74. महाभा. शांतिपर्व, 308, 306; वेदा. सूत्र, 2/1/1; गीता, 8/4, 20-21; 13/31
75. सांख्य प्रव. सू., 3/56-57
76. 'धातुः शरीरं क्षेत्र संज्ञितम' - महाभा., वनपर्व, 31/20; भाग. पु., 1/6/29
77. ऋग., 10/91/1, 2, 3, 5, 14
78. छांदो. उप., 5/1/12
79. प्रश्नोप., 2/5

कहा गया है। यह आत्मा शरीर से भिन्न[80] इंद्रिय, मन, बुद्धि से श्रेष्ठ[81], अदृश्य[82], प्राण का प्राण[83], तथा शरीर का अधिष्ठान[84] कहा गया है। इसके नित्य (शाश्वत) अविनाशी[85] गुण की चर्चा करते हुए शरीर के नष्ट होने पर भी इसे नष्ट न होने वाला[86] स्वतंत्र, अमृर्त्य (अमृत)[87], अजर-अमर[88] कहा गया है।

हिन्दू धर्म में यह अमरणधर्मा आत्मा मरणधर्मा शरीर के साथ संयुक्त होता है तथा राग-द्वेष से प्रेरित होकर विविध प्रकार के कर्म करता है तो, इस रूप को भोगात्मा (फलप्रद कर्म का कर्ता-भोक्ता) कहा गया है।[89] यह भोगात्मा ही अन्यत्र जीवात्मा भी कहा गया है, जीवात्मा अनेक हैं[90] वे परमात्मा (परमसत्ता) के अंश है।[91] जीवात्मा के तीन शरीर रूपों को माना गया है। प्रथम स्थूल शरीर, द्वितीय सूक्ष्म शरीर और तृतीय कारण शरीर। स्थूल शरीर अन्नमय कोश (माता-पिता व पंच महाभूतों (धातु) से निर्मित तथा अन्न से विकसित होता है), सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर (प्राणमय, मनोमय और विज्ञान कोश का संयोजन (पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय, पंच प्राण, मनस और बुद्धि) तथा कारण शरीर आनंदमय कोश (मानसिक गुण-ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक) के द्वारा माना गया है।[92] आत्मा का इन शरीरों से मुक्त होकर संसार में जन्म ग्रहण करना ही बंधन है और शरीरयुक्त जीवात्मा से पृथक होना, मुक्त होना ही परमगति/मोक्ष/मुक्ति माना गया है।[93] अतः राग, द्वेष, इच्छा, अहंकार के वशीभूत होकर सकाम कर्म

---

80. बृह. उप., 4/4/7; कठ. उप., 2/2/4; 1/2/19

81. कठ. उप., 1/3/10

82. छांदो. उप., 6/12/1; श्वेता. उप., 1/13

83. बृह. उप., 4/4/13

84. छांदो. उप., 8/12/1

85. बृह. उप., 4/15/14, 4/4/20

86-87. 'अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।' (स्वयं अमरणधर्मा यह (आत्मा) मरणधर्मा शरीर के साथ एक स्थानीय होकर अपनी इच्छा से (स्वधया) जकड़ा हुआ किसी वस्तु की ओर जाता और किसी वस्तु से परे हटता है)। - ऋग., 1/164/38;

88. 'न जायते म्रियते वा..... हन्यमाने शरीरे।' -कठ. उप., 1/2/18; बृह. उप., 4/4/7; गीता, 2/17-20, 25; 13/29; ब्रह्मसूत्र, शां. भा., 3/1/7

89. ऋग., 1/164/38; 1/164/1; श्वेता. उप., 5/7, 4/6; गीता 13/21; 'जीव कर्मफलं भुङ्क्ते', - ब्रह्म वैवर्त्त पु., प्रकृति खंड, प्रकृति, 28/13

90-91 कठ., उप., 3/4; केन. उप., 2/1; गीता, 8/3; 9/6; 10/2; 13/30-31; 15/7, 9; सांख्यका. 18

92.-93 कठ. उप., 1/3/7-8; तैत्तिरी. उप., 2/1-5 वेदा. सार, 17/29, 35, 45

करना तथा आत्मा का शरीर से तादात्म्य (दोनों को एक समझना) करना ही बंधन का प्रमुख कारण है।[94] साधना के द्वारा जब राग-द्वेष, अहंकार (मेरा, तेरा और कर्ता का भाव) से रहित होकर साधक सत्य स्वरूप/परब्रह्म (परमसत्ता) को प्राप्त कर लेता है तो वह जन्म-मरण के आवागमन (जन्म-मृत्यु बंधन) से मुक्त हो जाता है।[95] फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता है।[96] यही मोक्ष अथवा निर्वाण है, परमशांति का अधिस्थान है।[97]

हिन्दू धर्म की मान्यता के अनुसार जब तक चेतना/आत्मा शरीर से पूर्ण पार्थक्य नहीं कर लेती है, तब तक अपने कर्मानुसार मरणोपरांत बार-बार जन्म ग्रहण करती रहती है। बार-बार जन्म ग्रहण करने की धारणा को ही हिन्दू धर्म में पुनर्जन्म के सिद्धांत के रूप में माना है। इस सिद्धांत के अनुसार आत्मा भिन्न-भिन्न शरीर धारण करके नाना प्रकार के रूप धारण करता है।[98] वैदिक अवधारणा में पुनर्जन्म के अंतर्गत स्वीकृत पुनरागमन/पुनर्जीवन को अनुचित नहीं माना गया है। प्रार्थी/भक्त द्वारा 'पुनः हमारे प्राण को हमारे पास उपस्थित कर दो' की प्रार्थना करते हुए सूर्योदय को चिरकाल तक देखते रहने की कामना अभिव्यक्त हुई है।[99] पुनर्जन्म के संबंध में उपलब्ध वामदेव द्वारा वर्णित स्वयं के पुनर्जन्मों का वर्णन[100], वृक्ष लता मे प्रवेश का उल्लेख है।[101] अन्य कई स्थलों पर भी पुनर्जन्म के विवरण उपलब्ध होते हैं।[102]

हिन्दू धर्म में पुनर्जन्म के संबंध में, ब्राह्मण ग्रंथों, उपनिषदों व गीता आदि में आत्मा के द्वारा पूर्वरूप छोड़कर नया रूप ग्रहण करने को माना है।[103] कहा है कि 'जैसे मनुष्य (जीव) जीर्ण वस्त्रों को

---

94. बृह. उप., 4/4/12; गीता, 3/27-29; 7/27

95. मुंडक. उ., 3/2/5-9; श्वेता. उप., 1/6; 6/9; गीता, 9/9, 32

96. गीता, 8/15-20; 5/6

97. वही, 6/15

98. 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी, त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः -अथर्व., 10/8/27

99. ऋग., 10/59/6; 10/164/31

100. वही, 4/27/1; 6/2/11

101. वही, 7/101/6

102. वही, 4/27/1; 10/177/3

103. शतपथ ब्रा., 10/4/3/10, 10/1/4/14, 10/2/6/13, 10/5/1/4; प्रश्नोप., 5/4; बृह. उप., 3/9/4, 4/4/3-4; 6/2/16; 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' - केन, उप., 1/2/5, गीता, 2/13, 4/5; 7/19; 8/15, 9/3, 21; विष्णु स्मृति, 20/49

छोड़कर नये वस्त्र धारण करता है वैसे ही यह आत्मा भी जीर्ण शरीर छोड़कर नया शरीर ग्रहण करता है।'[104] इस प्रकार सारतः स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म शरीरेतर चेतना (शरीर से भिन्न व स्वतंत्र) को आत्मा के रूप में मानते हुए उसे अजर, अमर (अनश्वर) मानता है। लालसामुक्त होकर सकाम देह कर्म करने पर वह बंधन में पड़ने और आसक्ति निरोध द्वारा शुद्ध चित्त होकर साधना के द्वारा बंधनमुक्त होने की धारणा को स्वीकार करता है। साथ ही कर्म के अनुसार पुनर्जन्म ग्रहण करने की धारणा को भी मान्यता देता है।

ग. कर्मवाद :

हिन्दू धर्म का विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्म के लिये स्वयं उत्तरदायी है। उसे अपने द्वारा किये गये शुभ-अशुभ कर्मों का फल भोगना पड़ता है।[105] कहा गया है कि मनुष्य जैसा पकाता है वह पकाने वाले को वैसा ही प्राप्त होता है।[106] अर्थात् मनुष्य जैसा करता है वैसा ही भरता है। इस मान्यता को ही कर्मवाद कहा गया है।

इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा की शारीरिक या मानसिक प्रवृति कर्म की ओर होती है।[107] फलासक्त होकर जीव शुभ कर्मों का फल शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल अशुभ पाता है।[108] इन कर्मफलों का निर्धारण जिस नियम से होता है उसे वेद में ऋत[109] पूर्व मीमांसा में अपूर्व[110] न्याय-वैशेषिक में संस्कार/अदृष्ट[111] कहा है। संपूर्ण विश्व इसी ऋत/अपूर्व/अदृष्ट या संस्कार से संचालित हो रहा है। जगत नियंता (ईश्वर) अपने सत्य संकल्प से सर्वत्र व्यवस्था स्थापित करता है।[112]

---

104. 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृहपाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।' — गीता, 2/22

105. 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभशुभम्।' - अथर्व, 5/1/2, 12/1/54

106. 'आ-यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदतां चिकेत।।' - वही, 5/1/2

107. गीता, 3/5, 8

108. महाभा., शांतिपर्व, 20/1/33

109. ऋग., 4/21/3, 10/190/1; अथर्व., 2/1/5

110. पूर्वमीमां. सू., 2/1/5

111. न्यायभाष्य, 4/1/47, 3/2/68, 4/1/44,, 54; न्याय कंदली, पृ. 6

112. 'ऋतं च सत्यं चाभीदात्। तपसोऽध्यजायत।' - ऋग., 10/190/1 'परिद्यावापृथिवी सद्य ऽइत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः। ऋतस्य तन्तु विततं विचृत्य तदपश्चत् तदभवत्-तदासीत्।।' -यजु., 32/12

यह व्यवस्था ही ऋत है और ऋत ही सत्य/यथार्थ मार्ग है।[113] हिन्दू धर्म में सत्य और व्यवस्था को जीवन से गहन रूप में संबद्ध किया गया है। संपूर्ण सृष्टि प्रवाह में इस व्यवस्था के सर्वोच्च विधान को स्वीकार करते हुए मानव के नैतिक व्यवहार में कर्मवाद सिद्धांत से संज्ञिप्त किया गया है।

हिन्दू धर्म में मानव जीवन में किये जाने वाले दो प्रकार के कर्म माने गये हैं। सकाम कर्म और निष्काम कर्म। सकाम कर्म वे होते हैं जो फल प्राप्ति की इच्छा (भावना) से संचालित होते है।[114] इन्हें काम्य कर्म भी कहा जाता है। सकाम भाव से कर्म करने पर उसके संस्कार वैसे ही बन जाते हैं और वे संस्कार उसे (व्यक्ति) अपने अनुरूप बनाते हैं।[115] अतः इसे मनुष्य का कर्म संचय करना भी कहा है।[116] इसी संदर्भ में व्यक्ति को स्वनिर्माय माना गया है।[117] इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'यह पुरुष काममय है। जैसी उसकी कामना होती है वैसा ही उसका निश्चय (संकल्प) होता है। जैसा उसका निश्चय होता है वैसा ही वह कर्म करता है और जैसा कर्म करता है वैसा ही उसका फल होता है।'[118] यह फल विभिन्न जीवन स्तरों (भोगयोनियों) के रूप में व्यक्त होने वाला माना है।[119]

सकाम भाव से जो शुभ कर्म किया जाता है उससे न्यायरूप में मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति और उत्तम गति होती है।[120] वे देवताओं के साथ आनंद का उपभोग करते हैं, उत्तम योनि (जीवन) को प्राप्त होते हैं और जो निम्न/अशुभ कर्म करते हैं उन्हें अशुभ योनि (निम्न श्रेणी का जीवन) प्राप्त होती है[121] वह नरक में जाता है।[122] स्पष्ट है कि सुकृत/नैतिक शुभ कर्म (आत्मसंयम, उदारता, करूणा, दान, सत्य व्यवहार, अहिंसा, पवित्रता आदि) को पुण्य एवं दुष्कृत/अनैतिक अशुभ कर्म (काम, क्रोध, मोह) को पाप माना गया है।[123] इनसे कर्म संस्कार निर्मित होते हैं तथा व्यक्ति शुभाशुभ आचरण करता है। इस प्रकार

---

113. ऋग., 1/133/6
114. छांदो, उप., 8/10/2; गीता, 5/12
115. मुंडक उप., 3/2/2
116. मैत्रायणी उप., 3/2
117. बृह. उप., 4/3/9
118. वही, 4/4/35; 6/2/16
119. छांदो. उप., 5/10/6-7; गीता, 14/15, 16/19; मत्स्य पु., 291/18-21; 193/3/4; पद्म पु. , सृष्टि खण्ड, 27/44
120. 'स्वर्गः पन्था सुकृते देवयानः।' - ऋग., 18/4/14; एतरेय ब्रा., 22/6; 3/44, उद्धृत-राधाकृष्णन्, भार. दर्शन, भाग 1, पृ. 122-123
121. छान्दो. उप., 5/10/7, 3/6/1; बृह. उप., 4/3/33; गौतम स्मृति, 11/1, गीता, 9/21
122. ईशावा. उप., 9; कठ. उप., 1/2/6; गीता, 16/16
123. बृह. उप., 4/4/5, 5/2; तैत्तिरी. उप., 1/11, 12; कठ. उप., 1/3, 10; 2/2-3, 3/12; छांदो. उप., 1/2, 7

सकाम कर्म जो कि सत्व, रजस और तमस वृत्ति से उत्पन्न राग-द्वेष, अहंकार, अज्ञान, वासना आदि से संचालित होते हैं[124], उनके कारण ही व्यक्ति जन्म मृत्यु को उपलब्ध होते रहते हैं[125], इनसे ही कर्म फल व बंधन निर्मित होते हैं। पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में भी एक प्रकार की आसक्ति रहती है अतः उन्हें भी बंधनात्मक बताया गया है।[126]

हिन्दू धर्म में कालिक दृष्टि से कर्म के तीन रूपों को माना गया है।[127] प्रथम, प्रारब्ध कर्म-अतीत में किये गये जिन कर्मों का फलन कर्ता के वर्तमान जीवन में प्रारंभ हो गया हो। द्वितीय, संचित कर्म-कर्ता के वे अतीत कर्म जिनका फलन प्रारंभ नहीं हुआ है। तृतीय, क्रियमाण कर्म-वे कर्म जिन्हें कर्ता (व्यक्ति) वर्तमान में कर रहा है और जिनका फलन भविष्य में होगा।

मनुष्य के सुकृत एवं दुष्कृत (शुभ-अशुभ या सत्-असत्) कर्मों का ज्ञान परम पुरूष ईश्वर या परमात्मा को होता है[128] क्योंकि यह संपूर्ण जगत उससे ही है।[129] अतः ईश्वर ही सबको व्यवस्था का निमित्त बनाकर कर्मफल की व्यवस्था करता है।[130] हिन्दू धर्म में ईश्वर सापेक्ष कर्मफलन[131] एवं ईश्वर निरपेक्ष कर्मफलन[132]-दोनों ही मान्यताओं को स्वीकार किया गया है परंतु दोनों ही स्थितियों में निष्पक्ष न्याय/कर्मानुसार गति ही महत्वपूर्ण मानी गयी है। इस संदर्भ में कहा है कि न कोई मुझे प्रिय है न अप्रिय है। जो जैसा भजता है वैसा पाता है।[133] इस प्रकार स्वच्छंदता व पक्षपात पूर्ण न्याय का निषेध किया गया है।

हिन्दू धर्म सुकृत अथवा शुभ कर्त्तव्य-कर्म के रूप में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-चार पुरूषार्थों को मानता है। व्यक्ति को अपने वैयक्तिक और सामाजिक कर्त्तव्यों को अपनाते हुए धर्म (सदाचार एवं आध्यात्मिक विकास) अर्थ (अर्थोपार्जन व सांसारिक ऐश्वर्य) काम (भौतिक-ऐंद्रियक सुख) का संपादन

---

124. गीता, 2/62, 63; 14/8; 16/4, 5

125. ईशावा. उप., 39, गीता, 3/32, 7/20-21; न्याय भाष्य, 4/1/17; न्याय कंदली; पृ. 128; सांख्य प्रवचनसूत्र, 1/106; योगभाष्य, 2/3-5; वेदा. सूत्र, शां, भा., 1/3/2

126. पूर्व मी. सू., 4/1/1, 2; तिलक, गीता रहस्य, पृ. 43

127. ब्रह्म सू., 4/1/14-19

128.-129. कठ. उप.,-2/2/8; गीता, 8/22

130. श्वेता, उप., 6/13; गीता, 7/22

131. गीता, 4/6, 7; 9/17; 19/22; 7/21, 23; 16/19

132. झा., गंगानाथ, प्राभाकर मीमांसा, पृ. 80-87; बृह. उप., 4/4/5-6

133. गीता, 9/29, 4/11

करते हुए अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहना चाहिए। यद्यपि शुभ कर्मों/नैतिक आचरण से पुरुषार्थ सिद्धि कर व्यक्ति स्वर्गिक सुख का अनुभव करता है परंतु यह परम पुरुषार्थ नहीं हैं। परम-पुरुषार्थ की सिद्धि तो ब्रह्मज्ञान/तत्वज्ञान ही है[134] जो समस्त बंधनों से मुक्त कर देता है।[135] अतः हिन्दू धर्म में शुभ भाव से सकाम कर्म करने को महत्व देते हुए भी सकाम कर्मी को आत्मज्ञानी नहीं माना है।[136] इस धर्म की मान्यता है कि सकाम कर्म से व्यक्ति सुख प्राप्त करता है किंतु जरा-मरण के बंधन से मुक्त नहीं होता है।[137]

द्वितीय प्रकार का कर्म निष्काम कर्म/नैष्कर्म्य माना गया है। निष्काम कर्म वे होते हैं जो अनासक्त/निर्लिप्त भाव से-फल की कामना न करते हुए किये जाते हैं।[138] इनको करने से व्यक्ति जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त होता है।[139] आसक्ति रहित, ज्ञानपूर्वक, योग से कर्म करने पर सभी प्रकार के कर्म संस्कार और जन्म संस्कार नष्ट हो जाते हैं। यही जीवन का लक्ष्य माना गया है।[140] राग-द्वेष से मुक्त होकर एवं फल की कामना न करते हुए कर्म करने से[141] समस्त दुर्गुण और दुराचरण का नाश हो जाता है।[142] जो व्यक्ति निर्लिप्त/विकार-रहित होकर संयमपूर्ण पवित्र जीवन की ओर अग्रसर होता है एवं जिसे परमतत्व का ज्ञान हो जाता है वह संसार से मुक्त (पार) हो जाता है[143] अतः जो सुख-दुःख में और सभी में अनासक्त होकर दूसरों के प्रति आत्मवत् व्यवहार करता है वही परमयोगी माना गया है।[144] इस प्रकार हिन्दू धर्म में परम पुरुषार्थ मोक्ष के लिये मन, वचन व कर्म से शुभाशुभ-दोनों प्रकार के कर्मों से मुक्त होना आवश्यक माना है।[145] मुक्त होने पर वह परम तत्व/परमात्मा/ईश्वर में विलीन हो जाता है[146] व सभी भेद/विरोध समाप्त हो जाते हैं। यह अभेद दृष्टि ही मोक्ष-पुरुषार्थ है।

---

134. तैत्तिरी. उप., 2/1; छांदो. उप., 7/1/3

135. ब्रह्म सूत्र, 3/4/1

136. वही, 3/1/7

137. विष्णु पु., 6/7/28

138-139. कठ. उप., 2/6/14-15; गीता, 2/39, 45, 47; 3/1-8, 31; 5/7-12; 18/8; 4/14-23

140. ईशावा. उप., 1-2;

141. 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' - गीता, 2/47

142-143, ईशावा, उप., 2, 10-12 कठ. उप., 1/1/17; श्वेता. उप., 6/4; गीता, 4/22; 18/27

144. महाभा. शांतिपर्व, 258/21, अनुशासन पर्व, 1136-10

145. गीता, 9/28-30; 12/60; 7/28

146. छांदो. उप. 6/14/2, बृह. उप., 4/4/22

स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म में कर्मवाद की मान्यता जगत की शाश्वत नैतिक व्यवस्था में विश्वास रखने की मान्यता है। यह सकाम कर्म के विधान से व्यक्ति को प्रवृत्ति मार्ग की ओर अग्रसर करती है। परंतु इस नैतिक व्यवस्था के अंतर्गत कर्त्तव्य विधान ही धर्म है[147] और धर्म के द्वारा मोक्ष की सिद्धि मानी गयी है। धर्म को धारणात्मक तत्व मानते हुए धार्मिक अनुभूति के फलस्वरूप नैतिक सद् आचरण के रूप में अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, दया, संतोष, क्षमा आदि को महत्व दिया गया है।[148] कर्म के आधार पर कर्मफलन के रूप में जन्म, आयु, स्वर्ग, नरक आदि के प्राप्त होने की मान्यता को माना गया है। परंतु अंतिम लक्ष्य पवित्र, ज्ञानमय सत्य जीवन के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना/जन्म-मरण से मुक्त होना माना है।

घ. जगत :

हिन्दू धर्म जगत के संबंध में दो दृष्टियों से विचार करता है। एक तो मौलिक भौतिक जगत की दृष्टि से और दूसरी व्यावहारिक/संबंधात्मक जगत दृष्टि से। भौतिक जगत की उत्पत्ति के संबंध में इसकी मान्यता है कि जल-वायु आदि भौतिक तत्वों से इसकी उत्पत्ति हुई है। इस संबंध में जल की उत्पत्ति रात्रि रूपी अंधकार/अविश्रृंखलता की अवस्था एवं तमस/वायु से होना बताते हुए[149] कहा है कि जल की अवस्था से उन्नत होकर इस जगत का विकास-इच्छा, काम, बुद्धिरूप पुरुष तथा तप की ऊष्मा शक्तियों द्वारा हुआ।[150] इस प्रकार जल, वायु आदि को मौलिक भूत तत्व के रूप में मानते हुए इनके एकत्रित होने से नानाविध जगत की उत्पत्ति को माना गया है। संसार का प्रारंभिक आधार असीम, सर्वशक्तिमान ईश्वर के द्वारा सृष्टि रचना है।[151] उसने प्रारंभ में आकृति विहीन अस्त-व्यस्त अवस्था[152] में इस सुंदर विश्व का निर्माण किया।

नासदीय सूक्त में कहा गया है कि - उस समय न तो सत् था न ही असत्।.... आकारविहीन, श्वासक्रिया के बिना जीवित रहने वाला ब्रह्म विद्मान था। उसके अतिरिक्त कुछ नहीं था, उस समय अंधकार था, प्रारंभ में यह सब एक अर्णव समुद्र के रूप में था, प्रकाशरहित, एक ऐसा अंकुर जो त्विष (भूसी) से ढका हुआ था; उस एक की उत्पत्ति ऊष्मा (तप) की शक्ति से हुई। प्रारंभ में प्रेम ने उसे

---

147. महाभा, शांतिपर्व, 60/7; 63/61; 54/19-21

148. वही, शांतिपर्व, 61/24; 50/3

149. ऋग., 10/168

150. वही, 10/190

151. वही, 10/121

152. मैत्रेय उप., 5/2; मनु., 1/5/8

आर्विभूत किया जो मानस से उत्पन्न हुआ बीज था.....।[153] यह असीम से उदित विश्वशक्ति का स्वयं असीम उत्पत्ति स्थान करके वर्णन किया गया है।[154] आगे विश्वकर्मा को संबोधन करके लिखा है कि समुद्र के जलों ने सबसे प्रथम आद्यकालीन बीज को धारण किया। यह आदिम बीज संसार के उत्पादक अंडे के रूप में अव्यवस्था के आदिकालीन जलों के ऊपर तैरता था और यही जंगम विश्व का आदितत्व है।[155] जल पर यह अंडा आदितत्व असीम का चेतना रूप है।[156] इससे स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म में जगत्/सृष्टि की रचना परमसत्ता से मानी गयी है। यह परमसत्ता प्रारंभ में अप्रकट (असत्) रूप में थी बाद में प्रकट (सत्) हुई।[157] यह विश्व की उसी आत्मसत्ता के कारण है। उसने अपने को अपने आप से बनाया।[158] वह सृष्टि की रचना करता है।[159] उस एक ने अपने को दो भागों में विभक्त किया, पुरुष और स्त्री के रूप में।[160] इस प्रकार ईश्वर ने सृष्टि को अपने से ही प्रादुर्भूत किया।[161]

इस प्रकार हिन्दू धर्म में परम तत्व/ब्रह्म/परमात्म/ईश्वर से संपूर्ण जगत की उत्पत्ति-पंच तत्व (आकाश, वायु, अग्नि, जल, व पृथ्वी), पृथ्वी से औषधियां, औषधियों से अन्न, अन्न से बीज/वीर्य और बीज से मनुष्य/जीवात्मा की उत्पत्ति मानी है।[162]

हिन्दू धर्म व्यावहारिक जगत के प्रति सकारात्मक दृष्टि अपनाता है। यह जगत को ईश्वर से रचित मानते हुए सब प्राणियों के कर्मानुसार यथा-योग्य (उचित)[163] मानता है। कारण कि शुद्ध दिव्य

---

153. ऋग., 10/129; शतपथ ब्रा., 10/5/3/1

154. वही, 10/72/3, उद्धृत-राधाकृष्णन्, भार. दर्शन, भाग 1, पृ. 81

155. वही, 10/82/5-6

156. वही, 10/121; 10/72

157. वही, 10/72

158. बृह. उप., 2/1/20; मुण्डक. उप., 1/1/7; 2/1/1

159. बृह. उप., 1/4/7, 9; 1/2/1-7

160. बृह. उप., 1/2/14; कठ. उप., 2/1/6-7

161. छांदो. उप., 3/39; बृह. उप., 1/4/5, मुंडक उप., 1/7

162. छांदो. उप., 4/2/3-4; प्रश्न. उप., 4/8; तैत्तिरी. उप., 1/3; 2/1; ऐतेरे. उप., 3/3

163. स पर्थगाच्छुकमकायमव्रण-मस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो-ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्रतीभ्यः समाभ्यः।।' -ईशावा. उप., 8

सच्चिदानंद स्वरूप सर्वद्रष्टा,सर्वज्ञ एवं स्वेच्छा से प्रकट होते हैं[164] अतः हिन्दू धर्म मूलतः जगत् को मिथ्या नहीं मानता है अपितु यह मानता है कि परब्रह्म/सच्चिदानंद सब प्रकार से परिपूर्ण है यह जगत भी उससे ही पूर्ण है क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत पूर्ण है। उस पूर्ण ब्रह्म में से पूर्ण को (जगत) निकाल लेने पर भी वह पूर्ण ही बच रहता है।[165] अतः अखिल विश्व/ब्रह्मांड में जो कुछ भी चराचरात्मक जगत् है वह कल्याण स्वरूप परमेश्वर से व्याप्त है, सदा सर्वत्र उन्हीं से परिपूर्ण है। इसका कोई भी अंश उससे रहित नहीं है (सर्वव्यापी) अतः ईश्वर को निरंतर अपने साथ रखते हुए-सदा उसका स्मरण करते हुए तुम इस जगत् (व्यवहार जगत्) में ममता व आसक्ति का त्याग कर कर्त्तव्य पालन के लिये विषयों का यथाविधि उपभोग करो। वस्तुतः ये भोग्य-पदार्थ किसी व्यक्ति के नहीं है–सब परमेश्वर के हैं, अतः अनासक्तभाव से इनका उपयोग करो।[166] विश्वरूप ईश्वर के लिये अनासक्त कर्मों का आचरण बंधन में नहीं डाल सकता है।[167] स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म के अनुसार जगत् मिथ्या नहीं है वरन् यथार्थ है।[168] अज्ञान से किया गया कर्म बंधन स्वरूप होता है।[169] यह अज्ञान आत्मा को आत्मा (मूलतत्व का स्वरूप) न समझना है।[170] यही अज्ञान शरीर के प्रति राग और समस्त स्वार्थपरक इच्छा तथा क्रियाशीलता का आधार है।[171] कर्मबंधन के संदर्भ में 'अविद्याकामकर्म' का प्रयोग हुआ है।[172] अविद्या का अर्थ है बोध संबंधी भूल-जिसके कारण नानात्व/विविधता को यथार्थ/सत् मान लिया जाता है, काम का अर्थ है प्रमेय (वस्तुओं के प्रति आसक्ति व भावुकतापूर्ण प्रतिक्रिया) और कर्म से अभिप्राय है उसे (प्रमेय) पाने/छोड़ने की चेष्टा। इस विचार क्रम से ही संसार की नींव पड़ती है।[173]

---

164. वही, 8

165. 'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।-ईशावा. उप., शांतिपाठ

166. ईशा वास्यमिदं सर्व व्यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।। -वही, 1

167. वही, 2; ब्रह्मसूत्र, 3/3/30, 42; 3/3/52; 3/4/26

168. ब्रह्मसूत्र, श्रीभाष्य, 1/4/8; 1/1/3; 2/1/15

169. वेदा. सू., 3/4/26

170. मुण्डक उप., शां. भा., 3/1/2

171. केनोप., शां. भा., 4/9

172. मुंडक उप., शां. भा., 3/1/1

173. तैत्तिरी., उप., शां. भा; 1/11

इस संसार में काम्य कर्म की व अहंकार की उत्पत्ति अविद्या से होती है।[174] इससे ही द्वैत भाव उत्पन्न होता है।

ज्ञान-बोध हो जाने पर द्वैतभाव समाप्त हो जाता है। अतः शंकर के मत में द्वैत को मानना मिथ्या है, अज्ञान एवं अयथार्थता है। हिन्दू धर्म के अनुसार राग-द्वेष, काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि के कारण जगत के व्यवहार संबंध उत्पन्न होते हैं।[175] जीवात्मा (जीव) इन संबंधों से तादात्मय कर अज्ञानवश अपने मूल स्वरूप को विस्मृत कर देता हैं और सकाम भाव से कर्म करता है। परंतु जो परमात्मा का मूल स्वरूप एवं यथार्थता को समझकर उसके सगुण रूप (उपासना, भक्ति साधना), तथा निर्गुण रूप (तत्वज्ञान, ध्यान-योग) आदि के द्वारा आत्माबोध प्राप्त कर लेता है[176] वह मोक्ष द्वारा परमात्मा/परमसत्ता में ही लीन हो जाता है अथवा परम आनंद के लक्ष्य को उपलब्ध होता है।[177]

इस प्रकार हिन्दू धर्म के अनुसार भौतिक जगत् परम सत्ता/ईश्वर की सृष्टि है और व्यावहारिक जगत (देहधारण व संबंधात्मक जगत) मानव का कर्मस्थल है-जिसमें व्यक्ति पाप-पुण्य, शुभाशुभ कर्म करता है।[178] इनसे ही सुख-दुख, जरा-मरण आदि बंधन होते हैं। संसार में प्रवृत्ति/आवागमन होता है एवं निष्काम कर्म से निवृत्ति भी होती है[179] अतः दोनों महत्वपूर्ण है। इस प्रकार जन्म, मृत्यु व कर्म को संसार चक्र से संज्ञिप्त करते हुए इसका जगत में होना माना गया है।

4. हिन्दू धर्म में धर्मसमभाव की अवधारणा :

i. चेतनात्मक आधार पर धर्म समभाव :

हिन्दू धर्म में चेतना के आधार पर प्राणी-मात्र को एक ही परमतत्व से उत्पन्न मानते हुए सबके

---

174. वही, 1/11; वेदान्त सूत्र, शां. भा., 3/2/9

175. 'अहंकार बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
'मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वे योनिषु।। - गीता, 16/18-19

176-177. श्वेता. उप., 1/12; 4/17; 6/23; बृह. उप., 4/4/23; ब्रह्मसूत्र, 4/1/1-19; श्रीभाष्य, पृ. 83, 1/1/1; भागवत, 11/10/14

178. बृह. उप., 3/2/13; 4/4/5

179. महाभा., शांतिपर्व, 347/80, 81; 217/2; 237/1; 234/29; 240/60; विष्णु पु. 6/6/12; गीता, 4/7

प्रति समदृष्टि/समभाव को महत्वपूर्ण मानते हुए कहा गया है कि-'ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उदिभदोऽमध्यमासो महसा विव्यावृधुः। सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्य्या आ नो अच्छा जिगातन'।[180] अर्थात् 'सब मनुष्य समान है उनमें कोई बड़ा-छोटा नहीं, और मध्यम भी नहीं। ये अपनी शक्ति से ऊपर उठते हैं। ये महत्वकांक्षा से बढ़ते हैं, ये जन्म से कुलीन दिव्य मर्त्य है।-समान भ्रातृत्व भाव के लिये कहा गया है कि-अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभय.....।।[181] अर्थात् 'ये सब मनुष्य भाई हैं इनमें से कोई जन्म से बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं, इस समानता के भाव को धारण करते हुए सब ऐश्वर्य व उन्नति के लिये प्रयत्न करें।' अन्य स्थल पर सब के प्रति समभाव अपनाते हुए ईश्वर को सबका प्रेरक, समस्त प्राणियों और तत्वों क़ो मिलाने वाला, समस्त सुखों को बरसाने वाला, देह में आत्मा के तुल्य मानते हुए-उससे प्रार्थना की गयी है कि वह सब प्राणियों को नाना ऐश्वर्य और लोक प्राप्त कराये। इसके आगे प्रार्थी द्वारा मनुष्यों को विवादरहित होने के लिये संबोधित करते हुए कहा गया है कि हे मनुष्यों! आप लोग परस्पर अच्छी तरह मिलकर रहो। परस्पर मिलकर प्रेम से बात-चीत करो। विरोध छोड़कर एक समान वचन कहो। आप लोगों के सब मन एक समान होकर ज्ञान प्राप्त करें। ज्ञान संपन्न होकर सेवनीय अन्न का सेवन और उपास्य प्रभु की उपासना करो जैसा कि विद्वान जन करते हैं।[182] यह उल्लेख सभी प्राणियों को चेतनात्मक आधार पर ईश्वर से संबंद्ध मानते हुए सबके प्रति एक-सी जन कल्याण भावना को व्यक्त करता है तथा सभी में इसी प्रकार के भावों की उत्पत्ति की कामना करता है।

सब में समानता व सहृदयता के विकास के लिये आधार रूप में कहा गया है कि 'इन सबका वचन एक और विचार एक समान हो। परस्पर संगति, मेल-जोल भी एक समान, भेदभाव से रहित हो। इनका मन एक समान हो। इनका चित्त एक-दूसरे के साथ मिला हो। मैं आप लोगों को एक समान विचारवान् करता हूं और एक समान अन्नादि पदार्थ प्रदान कर आप लोगों को पालित-पोषित करता हूं। आप लोगों के संकल्प और भाव-अभिप्राय एक समान रहें। आपके हृदय एक समान रहें। आप लोगों के मन समान हों जिससे आप लोगों का परस्पर का कार्य सदैव सहयोगपूर्वक अच्छी प्रकार से हो सके।'[183]

---

180. ऋग., 5/59/6

181. वही, 5/60/5

182. संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इलस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर।।
सङ्गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।। - ऋग., 10/191/1-2

183. 'समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रम भिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।' - ऋग., 10/191/3-4

समभाव के सूचक ये वैदिक सूक्त हिन्दू धर्म के समतापूर्ण दृष्टिकोण को दर्शाते हैं। इनमें व्यक्ति व समाज के ज्ञान/बुद्धि, भाव एवं क्रिया पक्ष में पूर्ण सामंजस्य की प्रेरणा दी गयी है। इनमें मानव के सहयोगपूर्ण सामाजिक जीवन एवं समस्त प्राणियों को एक ही परमतत्व की अभिव्यक्ति मानते हुए मनुष्य को मनुष्य के प्रति सुहृदयी बनाने एवं उन्हें परस्पर आबद्ध करने के उद्‌गार अभिव्यक्त होते हैं।

हिन्दू धर्म के उपनिषद् साहित्य में चेतनात्मक एकता के आधार पर समानता को स्वीकार करते हुए परमसत्ता एवं आत्मा/समस्त जीवात्मा देवता, लोक, आदि को इसमें केंद्रित मानते हुए बिना किसी भेदभाव के उनमें एकत्व स्वीकार किया है तथा ज्ञान से इस एकात्म बोध की प्राप्ति मानी है।[184] अन्य शब्दों में यह कह सकते हैं कि जीवात्मा को, चेतनात्मक स्तर पर परमतत्व का ज्ञान होने पर/आत्मदर्शन होने पर भेद दृष्टि समाप्त हो जाती है एवं सबके साथ वह समभाव रखते हुए समान व्यवहार करता है। वह समष्टि के प्रति समदृष्ट हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि तत्वज्ञान चेतनात्मक एकता के आधार पर समभाव को दर्शाता है।

ii अनासक्त (राग-द्‌वेष से परे, निष्पक्ष) भाव के आधार पर धर्म समभाव :

हिन्दू धर्म में राग-द्‌वेष से रहित होकर संघर्ष-हीन मानवतावाद के आधार पर सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखने की[185] धारणा को प्रमुखता दी गयी है। ईश्वर से प्रार्थना की गयी है कि भगवन! ऐसी कृपा कीजिये जिससे मैं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्राणीमात्र के प्रति सद्‌भावना रख सकूं।[186]

परिवार के सभी सदस्यों में समभाव के द्‌वारा परस्पर सौहार्द, स्नेह व सहयोग की भावना अभिव्यक्त की है। यह अभिलाषा प्रकट हुई है कि वैर-विरोध, विद्‌वेष से परे शुभ भाव से परिवार के सब लोग एक दूसरे से मधुर वाणी में बोलें और सबके मन एक समान हों। उनमें एक दूसरे के प्रति पूर्ण सहानुभूति हो। यह सौमनस्य प्रत्येक काल में रहे जिससे समाज में कलह न हो और सब कार्य सुचारु रूप से चलते रहें।[187] वैश्विक स्तर पर पृथ्वी को सृष्टि की आधार-भूत अग्नि को धारण करने वाली मानते हुए संभवतः मानव साहित्य में प्रथम बार उसे माता बताकर अपने आपको (मनुष्य को) उसका पुत्र बताया गया है।[188] मातृभूमि की यह धारणा यह भाव स्पष्ट करती है कि यह पृथ्वी मानवमात्र के लिये है और

---

184. 'अहं ब्रह्मास्मि'-बृह. उप., 1/4/10, 3/8/9; 'अयमात्मा ब्रह्म' - वही, 2/5/19; तैत्तिरी. उप., 2/6/8; मुण्डक उप., 2/1/10; कठ. उप., 2/4/11; 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' - छांदो, उप., 3/14/1; 'तत्वमसि', - वही, 6/8/7; श्वेता. उप., 3/2-3

185. दृते दृथं हमा 'मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।' - यजु., 36/18

186. ..... यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि.....।' -अथर्व., 17/1/7

187. 'सहृदय सांमनस्यमविद्‌वेषं कृणोमि वः।..... सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु।।' - वही, 3/30/1-7

188. वैश्वानरं ब्रिभ्रती भूमिरग्निम्.....। -अथर्व., 12/1/6, 'माता भूमिः पुत्रोऽहंपृथिव्याः।'-वही, 12/1/12

वह राग-द्वेष से परे सभी मनुष्य पुत्रों को समान ऊर्जा और स्वतंत्रता से रहने की प्रेरणा देती है। वह सबके लिये समान है अतः सबके प्रति समभाव का व्यवहार करना चाहिए। मानवीय चेतना को परस्पर संबद्ध करने के लिये कहा है कि मनुष्य को मनुष्य की सब प्रकार से रक्षा और सहायता करनी चाहिये।[189] हिन्दू-धर्म-साहित्य इस बात से अपरिचित नहीं है कि मनुष्यों के विभिन्न वर्गों में अनेक प्रकार के विरोध या संघर्ष रहते ही हैं।[190] तथापि इस संघर्ष को समाप्त करने हेतु कहा है कि 'मित्र जिस प्रकार मित्र का सहायक होता है वैसा तू सब मानवों का हित करने वाला बन और उनका तेज बढ़ा।'[191] इसीलिये पुनः आगे कहा है कि आओ हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना का विस्तार हो।[192] हिन्दू धर्म की यह मान्यता है कि मानवों में श्रेष्ठ मनुष्य-मानवों का हित करता है[193] क्योंकि उसकी दृष्टि में ऋषि वही है जो मनुष्यों का हितकारी है[194] और मनुष्यों का हितकारी व्यक्ति राग-द्वेष से परे रहकर निष्पक्ष भाव से सबके लिये कल्याणकारी कार्य करता है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म में अनासक्त भाव (राग रहित) से कर्म करना महत्वपूर्ण माना गया है। इस संदर्भ में यह स्पष्ट करना उचित होगा कि राग के परिप्रेक्ष्य में ही द्वेष उत्पन्न होता है और द्वेष के परिप्रेक्ष्य में राग होता है। अतः जब राग ही न होगा तो द्वेष भी न होगा और परस्पर निष्पक्ष हितकर सद्भाव होगा। इसलिये हिन्दू धर्म में राग/मोह के निषेध के साथ ही द्वेष का भी निषेध किया गया है। द्वेष मुक्त होने एवं सर्वत्र शत्रु रहित होने के कई उल्लेख उपलब्ध होते हैं।[195] सबके दुःखों और दुर्गुणों को दूर कर सब ओर से सबके लिये भद्र भावना एवं कल्याण भाव की अभिव्यक्ति की गयी हैं।[196] साथ ही यह भी माना गया है कि ऋत, सत्य भाषण, संयत जीवन, कर्त्तव्यपरायणता आदि उसके (मनुष्य के) अंतः स्वरूप की आवश्यकता है वह सर्वथा आदर्श विहीन नहीं है अतः उसकी उन्नति हो।[197] यह स्वस्ति कामना[198] की

---

189. 'पुमान्पुमांसं परि पातु विश्वतः' ऋग., 6/75/14

190. 'पुरूद्रुहो हि क्षितयो जनानाम्; .....।' वही, 3/18/1

191. 'सखेव सरव्ये नर्यो रुचे भव' वही, 9/105/5

192. 'तत्कृण्मों ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः।। -अथर्व., 3/30/4

193. 'नृणां नर्यो नृतमः' -ऋग., 10/29/1

194. 'ऋषिः स यो मनुर्हितोः.....।।' -वही, 10/26/5

195. 'विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत्' -वही, 4/1/4; 'स नः पर्षद् अतिद्विषः अथर्व., 6/34/1; 'मा नो द्विक्षत कश्चन' -वही, 12/1/24; असपत्ना-प्रदिशो में भवन्तु' - वही, 19/14/1

196. 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः। ..... देवहितं यदायुः।।' -ऋग., 1/89/1-2, 8

197. 'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद-भद्रं तन्न आ सुव।।' - यजु., 30/3

198. ऋग., 10/63/15-16

9—259 Min. of H.R.D./2005

गयी है कि इस पृथ्वी लोक और अन्य लोक में, सर्वत्र मनुष्य की सुख शांति और विश्व शांति ही प्रमुख ध्येय है।[199] हिन्दू धर्म राग-द्वेष से परे समस्त जगत के रोगरहित तथा स्वस्थ मन होने की कामना करता है।[200] कहा गया है कि सभी माताओं का मंगल हो, पिताओं का मंगल हो, पुरुषों का मंगल और सब जगत का मंगल हो।[201] यह मंगल भाव राग-द्वेष से परे निष्पक्ष आधार पर समभाव का समर्थन करता है।

राग-द्वेष से परे निष्पक्षता का भाव विवेक को अपने में समावेशित करता है तथा विवेक के आधार पर चेतनात्मक समानता के संदर्भ में कहा गया है कि 'समस्त प्राणियों के प्रति मेरा समभाव है। यही मेरा व्रत और नियम है। सब मनुष्य के प्रति मेरी तराजू सम है।'[202] 'जो प्राणी मात्र का मित्र होता है, जो मन वचन कर्म से सबके हित साधन में लगा हो उसे ही धर्म का ज्ञाला कहा गया है।'[203] अतः 'बुद्धिमान मनुष्य सभी प्राणियों के प्रति अपने समान ही भाव रखे। इससे यह कृतकृत्य और शुद्धचित्त होकर समस्त दोषों को त्याग देता है।'[204] यही प्राणियों के लिये अत्यंत हितकर है अतः इसे सत्य भी कहा जा सकता है।[205] स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म में किसी के भी प्रति राग-द्वेष न रखते हुए शुद्ध चित्त से निष्पक्षता एवं सत्यता पूर्वक दूसरों को अपने ही समान जान कर व्यवहार करना उचित माना गया है।

हिन्दू धर्म में सभी वर्गों व वर्णों में पारस्परिक प्रीति का आह्वान किया है।[206] कहा गया है कि 'वर्णों में कोई विशेषता या भेद नहीं है क्योंकि सारी सृष्टि उसी परमेश्वर ने बनायी है।'[207] इसकी पुष्टि

---

199. वही, 1/190/9; 7/35/8-10; अथर्व., 19/9/1-2; यजु., 36/10-17

200. 'यथा नःसर्वमिज्जगद् आयक्ष्मं सुमनाऽअसत्।' - यजु. 16/4

201. अथर्व., 1/31/4

202. 'समोऽहं सर्वभूतेषु पश्य में जाजले व्रतम्।
तुला में सर्वभूतेषु समातिष्ठति जाजले।।' - महाभा., शांतिपर्व, 50/41

203. 'सर्वेषा यः सुहृन्नित्यं सर्वेषा च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्म वेद जाजले।।' - वही, शांतिपर्व, 50/40

204. 'विद्वान सर्वेषु भुतेषु आत्मना सोपमो भवेत्।
कृतकृत्यो विशुदात्मा सर्व त्यजति चैवहि।।' - वही, शांतिपर्व, 55/9; गीता 6/29-30, 32

205. महाभा., शांतिपर्व, 58/7

206. 'रूच-नो धेहि ब्राह्मणेषु रूचं राजसु नस्कृधि।
रूचं विश्येषु शुद्रेषुर्माय धेहि रूचा रूचम्।।' - यजु., 18/48

207. 'न विशेषोऽस्ति वर्णानाम् सर्वं ब्राऽह्मिदं जगत्'।
- महाभा., शांतिपर्व, अध्याय 188/10

करते हुए कहा है कि जिनके जन्म लेने की विधि या समान-प्रसव हों वे सब एक जाति के हैं।[208] इस आधार पर सारे मनुष्य एक ही जाति के माने गये हैं।[209]

इन उल्लेखों से सारतः स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म के अनुसार संसार के सभी जीव प्राणी-जाति के हैं। सभी मनुष्य मानव जाति से संबद्ध हैं अतः सबके प्रति राग-द्वेष से उत्पन्न भेदों से परे होकर, चेतनात्मक एकता के आधार पर व्यापक सौहार्दपूर्ण समभाव/समरसता को स्वीकार किया गया है।

iii अन्य धर्मों/मतों के प्रति धर्म समभाव :

हिन्दू धर्म के वाङ्मय में विभिन्न धर्मों/मतों/संप्रदायों/वर्गों (आर्य व अनार्य) में संघर्ष होने के उपलब्ध उल्लेखों के आधार पर विद्वानों के अनुसार इन संघर्षपूर्ण स्थितियों के अंतर्गत जो समझौते हुए उनमें एक धर्म/मत द्वारा दूसरे धर्म/मत के सिद्धांतों, आचार एवं उपासना पद्धत्तियों को परस्पर मान्यता देने और अपनाने की प्रवृत्ति रही है।[210] इससे हिन्दू धर्म की समन्वयकारी एवं सहिष्णु प्रवृत्ति का बोध होता है। इस निष्कर्ष का आधार हिन्दू धर्म साहित्य के अनुशीलन के फलस्वरूप उपलब्ध अन्य धर्मों के मतों के प्रति पाया जाने वाला धर्म समभाव का चिंतन है।

हिन्दू धर्म में तत्व चिंतकों ने अपनी एकात्मक-तत्वानुभूति के आधार पर विभिन्नताओं के प्रति अवरोधी भावों को दर्शाया है। इस संबंध में कहा गया है कि 'एक सत्स्वरूप परमेश्वर को बुद्धिमान ज्ञानी (विद्वान) अनेक प्रकारों से-अग्नि, यम, मातरिश्वा, इंद्र, मित्र, वरुण, दिव्य, सुपर्ण, गुरुत्मान् आदि विविध नामों से पुकारते हैं।'[211] एक ही ज्योति अपने-आपको विविध रूपों में प्रकट कर रही है अतः सब कुछ वही है।[212] इसका अर्थ यह है कि जगत में जो कुछ भी विभिन्नताएं हैं वे सब उस ईश्वर से ही है अतः इसे समझते हुए किसी से भी भेद/विरोध नहीं करना चाहिये। हिन्दू धर्म में तत्कालीन युग में विकसित धर्मों/मतों/विभिन्न सिद्धांतों में विरोध न करें इस संबंध में कहा है कि 'पुरोहित और कविगण बहुत सी

---

208. 'समान प्रसवांत्मिका जातिः' - न्याय सूत्र, 2/2/70

209. 'सांख्यका', 5/7

210. सत्यभक्त, धर्मसमीक्षा पृ. 9; सत्यामृत-दृष्टिकांड, पृ. 133-134; राधाकृष्णन्, प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ. 336, 337, 342; भंडारकर, आर.जी., वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ. 38, 48, 113

211. इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरयो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः - ऋग., 1/164/46

212. 'एकं ज्योतिर्बहुधाविभति।' अथर्व., 13/3/17; 'यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।' - कठ. उप., 2/3/2; 'बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः। सुखं-दुःखं भावोऽभावो भयं चाभयमेव च।। अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः। भवन्ति भाव। भूतानां मत्त एवं पृथग्विधाः।।' - गीता, 10/4-5; 6-11; ब्रह्मसूत्र; श्रीभाष्य, 1/1/3/1; विष्णु पु. 1/19/85

प्रच्छन्न वास्तविकताओं (सत्यों) को जो एक ही सत्य के विभिन्न रूप हैं अपने शब्दों से प्रकट करते हैं।[213] इस सत्य को ब्रह्म मानकर कहा गया है कि 'पंडितों ने व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म को कई नामों से पुकारा है, जैसे विधि, आत्मा, सत्य। 'सांख्य दर्शन को मानने वालों ने इसको 'पुमान' या 'पुरुष' कहा है; वेदांतियों ने इसे ब्रह्म कहा है; विज्ञानवादियों ने इसे एकांत निर्मल 'चेतना' या 'विज्ञान' माना है; शून्यवादियों ने इसे 'शून्य' के रूप में देखा है; सूर्योपासकों ने इसको-'भास्कर' कहा है। उसे 'वक्ता', 'विचारक', 'दृष्टा', कर्म का 'भोक्ता' और 'कर्त्ता' भी गया है; योग ने ईश्वर कहा है।' 'यह शिवोपासकों के लिये 'शिव' है और काल में आस्था रखने वालों के लिये 'काल'; (समय) है।'[214]

यह उदाहरण पूर्ण स्पष्ट रूप में अन्य धर्मों व मतों के प्रति धर्म-समभाव का दृष्टिकोण अभिव्यक्त करता है। इसमें बौद्ध धर्म के विज्ञानवाद के विज्ञान व शून्यवाद के शून्य; शैव-धर्म के शिवोपासक; अनीश्वर द्वैतवादी सांख्य दर्शन के पुरूष; अद्वैत वेदांत के ब्रह्म को तो आदरपूर्वक स्वीकार किया ही गया है पर इनके अतिरिक्त भी उस परमसत्ता के बारे में सभी प्रकार के विचारों, वक्तव्यों दृश्यों आदि को भी मानने एवं वर्णन करने की अनुमति का भाव दर्शाया गया है। ये मत/धर्म विभिन्नताएं एक ही परमसत्ता के अभिव्यक्ति रूप हैं। अतः विभिन्न धर्मों व अभिव्यक्तियों के आधार पर मानव जाति को परस्पर संघर्षशील व अनुदार नहीं होना चाहिये। उन्हें परस्पर समभाव से रहना चाहिये यही इस उद्धरण को केंद्रीय भाव है।

भगवद्गीता में सबके प्रति समदृष्टि अपनाते हुए, विभिन्न प्रकार के कर्मों, उपासना-पद्धतियों, विधि-विधानों के प्रति सहिष्णुता/उदारता अपनाते हुए कहा गया है कि अन्य देवताओं की श्रद्धापूर्वक पूजा करने वाले भी मेरी ही (ईश्वर) पूजा करते हैं।[215] अपने-अपने स्वभाव के कारण जो जिस देवता की जिस रूप में आराधना करते हैं उनकी श्रद्धा उसी में स्थिर कर देता हूं और उससे ही वे वांछित फल प्राप्त

---

213. 'सुपर्ण विप्राः कवयो वचोभिरेकं संतं बहुधा कल्पयन्ति' - ऋग., 10/114/5

214. 'ऋतं आत्मा परंब्रह्म सत्यं इत्यादिका बुधैः,
कल्पिता व्यवहार्य तस्य संज्ञा महात्मनः'
'यः पुमान सांख्यदृष्टिनां ब्रह्मवेदान्तवादिनाम्,
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां एकान्तनिर्मलम्,'
'यः शून्यवादिनां शून्यो भासको योऽर्कतेजसाम्
वक्तामन्ता ऋतं भोक्तां दृष्टा कर्त्ता सदैव सः,'
'पुरुषः सांख्यदृष्टीनां ईश्वरो योगवादिनाम्,
शिवः शशिकांगानां कालः कालैववादिनाम्.....। - योगवाशिष्ठ, 3/1/12, 3/5/6 ¯, 5/8/19

215. 'येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।' - गीता, 9/23

करते हैं यह फल मैं ही देता हूं।[216] कारण कि सब रूप एक ही ईश्वर के हैं, उनकी आराधना/पूजा ईश्वर की पूजा है। अतः उनमें (भक्तों) कोई तो मुझ विराट्स्वरूप परमात्मा का-ज्ञान यज्ञ के द्वारा पूजन करते हैं, एकत्वभाव से उपासते हैं और कोई दूसरे पृथक्कत्व भाव से अर्थात् स्वामी-सेवक भाव से और कोई-कोई बहुत प्रकार से उपासते हैं क्योंकि सब कुछ मैं ही हूं।[217] भगवद्गीता में असंगत/विरोधी दिखाई देने वाली धार्मिक, दार्शनिक एवं भावनात्मक विचारधाराओं में नैतिक अंतर्दृष्टि एवं चेतनात्मक बोध के आधार पर संसार की सार्वभौमिक एकता प्रस्तुत की गयी है। इसे कृष्ण-अर्जुन के संवादों के द्वारा प्रस्तुत कर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार से विभिन्न विचारधाराएं एक ही उद्देश्य की ओर अग्रसर हैं।

न्याय दर्शन के उदयनाचार्य ने लिखा है 'शैव लोग जिसकी शिव मानकर पूजा करते हैं, वेदांती जिसे ब्रह्म मानते हैं, बौद्ध जिसे बुद्ध मानते हैं, प्रमाणों के ज्ञान में पटु नैयायिक जिसे कर्ता मानते हैं, जैन धर्म के अनुयायी जिसे अर्हंत मानते हैं, कर्मकांडी मीमांसक जिसे कर्म मानते हैं, वह तीनों लोकों का स्वामी हरि तुम्हे मनोवांछित फल दे।'[218] इसके अनुसार सभी प्रकट रूप उसी एक परमसत्ता के हैं। अतः कहा है कि 'विष्णु शिव है और शिव विष्णु है और जो समझता है कि अलग-अलग हैं, वह नरक में जाता है।'[219] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म में मुख्यतः धर्म के किसी एक रूप को ही महत्व देकर

---

216. 'यो यो यां यां तनुं भक्तःश्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।
स तथा श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।।' - गीता, 7/21-22

217. ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यहमहमग्निरहं हुतम्।। - गीता, 9/15-16

218. 'यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेतिवेदान्तिनः
बौद्धाः बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैय्यायिकाः।
अहंन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः,
सोऽयं वो विद्धातु वांछितफलं त्रेलोक्यनाथो हरिः।' - उदयनाचार्य, उद्धृत-राधाकृष्णन्, भगवद्गीता, पृ. 148

219. 'हरि रूपी महादेवो लि रूपी जनार्दनः।
ईषदप्यन्तरं नास्ति मेदकृननरकं व्रजते।।-ब्रहन्नारदीय, उद्धृत, वही, पृ. 148

चर्चा नहीं की गयी है वरन् इसमें धर्म के उस मनोभाव की चर्चा को प्रमुखता दी गयी है जो सब रूपों में अभिव्यक्त होता है। धर्म की धारणा में और प्रणाली का अंतर/विभिन्नताएं स्वाभाविक हैं क्योंकि ये देश/काल/सामाजिक अनुकूलन आदि के द्वारा निर्धारित होते हैं। पर ये प्रकट विभिन्नताएं भी एक ही परमसत्ता के रूप हैं अतः हिन्दू धर्म अन्य धर्म मतों के प्रति विद्वेष वैमनस्य एवं कट्टरता के भावों को अनुचित मानता हैं। इस प्रकार यह धर्म सभी धर्म-मतों के प्रति सौहार्द का भाव रखने का चिंतन प्रस्तुत करता है।

धर्म समभाव में अन्य धर्मों के प्रति आदरभाव के साथ ही ज्ञान/विवेक/सत्यता (संश्लेषणात्मक व विश्लेषणात्मक) का प्रश्न भी संबंधित है। हिन्दू धर्म धर्म के विषय में सत्य पर पर्याप्त बल देता है। यह नैतिक आदर्शों का आधार सत्य को मानता है तथा अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना ही वास्तविक धर्म मानता है। यदि संसार से सत्य को समाप्त कर दिया जाए तो कोई किसी पर विश्वास न करे और इस प्रकार समस्त लोक व्यवहार ही समाप्त हो जाए अतः इसके अनुसार सत्य पर सब आधारित है।[220] सत्य में ही श्रद्धा की पात्रता होती है असत्य में नहीं।[221] इसलिये ऋग्वेद में स्पष्टतः कहा है कि विवेकशील (उत्तम ज्ञान को प्राप्त करने वाले) पुरुष के लिये सत्य और असत्य वचन एक-दूसरे की प्रतिस्पर्धा करते हुए आते रहते हैं, उन दोनों में जो सत्य और सरल वचन हैं सौम्य गुण युक्त पुरुष (व्यक्ति) उसकी रक्षा करता है और जो असत्य वचन है उसका सर्वथा नाश कर डालता है।[222] अतः यह प्रार्थना की गयी है कि 'मैं वाणी में सत्य को प्राप्त करूं', 'मैं झूठ से बचकर सत्य को धारण करता हूं'; समस्त दैव शक्तियां मेरी रक्षा करें और मुझे सत्य में तत्पर रहने की शक्ति प्रदान करें।[223] हिन्दू धर्म में स्वीकृत ये भावनाएं सत्य विचार एवं ऋत को तत्वज्ञान का आधार मानती है। वह अंधभक्ति में विश्वास नहीं करता हैं। उसमें यह स्पष्टतः निर्देश दिया गया है कि अनेक बार रमणीय बाह्य स्वरूप के कारण असत्य को भी सत्य समझ लिया जाता है। यह असत्य सत्य को आवरणमय कर देता है (अनेक बार सत्य चमकीले स्वर्णमय पात्र से ढका होता है)। ऐसी अवस्थाओं (असत्य) का शिकार व्यक्ति को न होना पड़े इसलिये प्रार्थना की गयी है कि हे पोषक प्रभो। तू सत्यशील मेरे लिये सत्य के दर्शनार्थ उस चौंधाने वाले स्वर्णिम पात्र को हटा ले।[224] इस मंत्र में यह उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को सत्य को ढकने

---

220. 'सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।' - अथर्व., 12/1/1

221. यजु., 19/77/, 19/30

222. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्। - ऋग., 7/104/12

223. 'वाचः सत्यमशीयः; - यजु., 39/4; 'सुगा ऋतस्य पन्थाः' - ऋग., 8/31/13; 'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि' - यजु., 1/5; 'देवा दैवेरवन्तु मा।..... सत्येन सत्यम्'..... - वही, 20/11-12

224. 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।। - यजु., 40/17, ईशावा., 15

वाले रमणीय असत्य के ढक्कन को उतारकर सत्य की तह तक पहुंचना चाहिये, इसलिये ऋषियों ने तर्क को भी ऋषि तथा तत्वज्ञान का निरूपण करने वाला माना है।[225]

उपनिषदों में सत्य को सर्वोपरि महत्व देते हुए कहा है कि सत्य की ही विजय होती है असत्य की नहीं। परमसत्ता/ब्रह्म/परमात्मा सत्यस्वरूप है; अतः उनकी प्राप्ति के लिये मनुष्य में सत्य की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। बुद्धिमान मनुष्य सत्य और सदाचार का मार्ग ही अपनाते हैं, सत्य देवताओं का पथ प्रशस्त करता है।[226] अतः ऋषियों द्वारा असत्य से सत्य की ओर अंधकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमृत्व की ओर अग्रसर होने की प्रार्थना की गयी है।[227] कारण यह है कि नैतिक सद्गुण के रूप में सत्यपालन हमें ब्रह्म (परमसत्य) तक पहुंचने के योग्य बनाता हैं।[228] अन्यत्र भी इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं।[229] स्मृतिकार भी सत्यान्वेषण पर बल देते हैं। मनु ने लिखा है कि 'जो व्यक्ति तर्क की सहायता से अन्वेषण करता है वही धर्म को जान सकता है, दूसरा नहीं'[230] मनुष्य बुद्धिमान हो और अपने हिताहित के परिज्ञानार्थ अपनी बुद्धि का प्रयोग करता रहे, इस बात पर हिन्दू धर्म ने बहुत बल दिया है, शास्त्रार्थ, वाद-विवाद के द्वारा मत को परिष्कृत किया है। मनु ने व व्यास ने यह निर्देशित किया है कि कालभेद एवं देशभेद से धर्म-आचार में परिवर्तन होते रहते हैं। एक ही क्रिया देश या काल के भेद से धर्म या अधर्म हो जाती है। जो धर्म होता है, वह अधर्म हो जाता है और जो अधर्म होता है वह धर्म हो जाता है अतः भलीभांति विचार करके ही कार्य व आचरण करना चाहिये।[231] गीता में भी विद्वानों द्वारा समाचरण हेतु बुद्धिपूर्वक कार्य करने का यह विचार स्वीकृत है।[232]

---

225. 'मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन। को न ऋषिर्भविष्यतीति।
तेभ्यः एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूलहम।' - निरूक्त, 13/12; 'तर्को वै ऋषिः।' - न्यायसूत्र, 1/1/21

226. 'सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।।' - मुण्डक उप., 3/1/6

227. 'असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतंगमय। - बृह. उप., 1/3/27

228. 'सत्यं भगवो विजिज्ञास इति।.....। यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन् सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति। - छांदो, उप., 7/16/17

229. तैत्तिरी, उप., 1/9, 11, 2/1, 5

230. 'यस्तर्केणानुसन्धते स धर्मं वेद नेतरः।' - मनु., 12/106

231. महाभा., शांतिपर्व, 259/17-18, 33/32; मनु; 1/85, 7/43

232. 'बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यकत्वां रागद्वेषो व्युदस्य च।।' - गीता, 18/51
'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्यादगुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषण यथेच्छसि तथा कुरू।।' – वही, 18/63

इन समस्त उल्लेखों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू धर्म विभिन्न धर्म मतों, सिद्धांतों तथा शब्दों और प्रतीकों का मार्ग और साधनाओं का महत्व केवल साधन रूप में स्वीकार करता है। इन विभिन्न साधनों का इतना ही महत्व माना गया है कि वे धर्म की वैयक्तिक साधना और समाजकल्याण (स्व-पर कल्याण) के लिये व्यक्ति को उसके शारीरिक, बौद्धिक व मानसिक स्तर के अनुरूप विकास करने के लिये प्रेरित करते हैं। इससे आत्म विकास होता है। आत्म विकास के पश्चात् वह समस्त संकुचितताओं से ऊपर उठ जाता है। उसके नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प छूट जाते हैं, शास्त्र प्रमाण से बंधना आवश्यक नहीं होता है। किसी एक ही मत विशेष की उपासना-साधना पद्धति महत्वपूर्ण नहीं होती है। वरन् तत्वबोध एवं आत्मानुभूति/चेतनात्मक एकता की अनुभूति (ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है एवं सब में उसकी ही चेतना व्याप्त है) तथा कालातीत समानुभूति के कारण उसमें सहिष्णुता का भाव विकसित हो जाता है। वह विमर्शात्मक चिंतन के द्वारा अंधश्रद्धा एवं संकुचित दृष्टि से मुक्त होकर विवेकपूर्वक सभी धर्मों में समन्वय करते हुए धर्म समभाव की ओर अग्रसर होता है। अतः यह मानना संगत होगा कि हिन्दू धर्म अन्य धर्मों के प्रति धर्म-समभाव की अवधारणा को स्वीकार करता है एवं उसमें धर्म समभाव के सभी मान्य आधार पाये जाते हैं।

3.2 जैन धर्म :

पौर्वात्य धर्म परंपरा में श्रमण धारा से उद्भूत जैन धर्म का विशिष्ट स्थान है। जैन शब्द की उत्पत्ति 'जिन' शब्द से हुई है क्योंकि प्राचीन स्तर के साहित्य में जिन शासन[233], जिनमार्ग[234], जिन वचन[235], आदि का प्रयोग हुआ है। विशेषावश्यक भाष्य में 'जइण' (जैन) शब्द का प्रयोग मिलता है।[236] 'जिन' का अर्थ है राग-द्वेष को जीतना – अर्थात् जिसने अपने राग-द्वेष आदि मनोभावों को जीत लिया है उसे 'जिन' कहा गया है।[237] यह उपाधि (विशेषण) वर्धमान (महावीर)[238] को दी गयी, जो जैन धर्म के अंतिम 24वें तीर्थकर माने गये हैं।[239] इन्होंने व्यवस्थित रूप में महाव्रत एवं संघ की स्थापना कर व्यवस्थित

---

233. दशवै. सूत्र 8/25 : पद्म पु., 14/343, 64/45; हरिवंश पु., 11/105, 43/88

234. पद्म पु., 49/19, 53/63

235. उत्तरा. सूत्र, 36/60; पद्म पु., 14/251

236. विशेषा. भाष्य, गाथा 1043-1046

237. सूरि, मल्लिषेण, स्याद्वाद मंजरी, 21, हि. अनु., जगदीश चंद्र, पृ. 196, 197

238. वही, 1, पृ. 3, 6, 7

239. उत्तरा. सू., 23/28-33

धर्म का प्रारंभ किया।[240] अतः 'जिन' परंपरा के आधार पर स्थापित धर्म ही कालांतर में जैन धर्म से जाना जाने लगा। इसके अतिरिक्त श्रमण धर्म[241], अर्हत धर्म[242] आदि भी जैन धर्म के नाम रहें हैं। जिन धर्म या जैन धर्म शब्द का स्पष्ट उल्लेख मत्स्य पुराण[243] मिलता है। अतः परंपरा की दृष्टि से 'जिन धर्म' को जैन धर्म कहना संगत है।

1. ऐतिहासिक स्वरूप :

पौर्वात्य चिंतन परंपरा में वेदों की समकालीन एक ओर चिंतन परंपरा-श्रमण विचारधारा के रूप में रही है।[244] वेदों में मुनियों, साधुओं, तपस्वियों, ऋषियों के अतिरिक्त यतियों एवं व्रात्यों का उल्लेख भी मिलता है। डा. हीरालाल जैन के अनुसार यति एवं व्रात्य संयासी ब्राह्मण परंपरा के न होकर श्रमण परंपरा के ही संन्यासी व्यक्ति हैं।[245] श्रमण संस्कृति में यति एवं व्रात्य शब्द आज भी प्रचलित हैं तथा ऋषियों एवं मुनियों की भांति आज भी पूजनीय माने जाते हैं। जैनागम ग्रंथों में भी यति शब्द का प्रयोग पाया जाता है।[246] 'यति' शब्द निर्युक्ति देते हुए कहा है कि 'जतमाणतो जति'[247] एवं 'यतते सर्वात्मना संयमानुष्ठानेष्विति यतिः।'[248] यति शब्द से युक्त ऐसी अनेक परिभाषाएं[249] यह प्रमाणित करती हैं कि जैन ग्रंथों में जो यति शब्द का प्रयोग हुआ है वह वैदिक ब्राह्मणेत्तर-श्रमण संस्कृति/श्रमण धारा से ही संबंधित है। इसी प्रकार व्रात्य शब्द का उल्लेख मिलता है। अर्थवेद में व्रात्यकांड के अंतर्गत व्रात्य को विद्वत्तम, महाधिकारी,

---

240. आव. चूर्णि, 85

241. दशवै. सू., 8/42

242. विष्णु पु., 3/18/12

243. मत्स्य पु., 4/13/54

244. Pande, G.C., Studies in the Origins of Buddhism, P. 258

245. जैन, हीरालाल, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ. 18

246. उत्तरा, सू., 24/12; पिंडनिर्युक्ति, 124

247. दशवै. चूर्णि, पृ. 233

248. वृहद भाष्य टीका, पृ. 63

249. 'यर्तयः उपशमक्षपकश्रेण्यारूढ़ा भष्यन्ते' (जो उपशम श्रेणी का क्षपक श्रेणी में विराजमान हैं उन्हें यति कहते हैं)। - चारित्र सार, 46/4; 'इंद्रियजयेन शुद्धात्मस्वरूप प्रयत्नपरो यतिः' (जो इंद्रियजय के द्वारा अपने शुद्धात्म स्वरूप में प्रयत्नशील होता है उसको यति कहते हैं)। - प्रवचन सार, 69/90/14; 'चरित्र में जो यत्न करे वह यति कहा जाता है' - मूलाचार, गाथा 886

पुण्यशील, विश्व-मान्य हितकारी और ब्राह्मण विशिष्ट कहा है।[250] व्रात्य एवं व्रती शब्द का अर्थ लगभग एक जैसा ही प्रयुक्त किया गया है। इसका अर्थ व्यक्ति या समुदाय के रूप में व्रतों का पालन करने वालों से है। अतः व्रात्य शब्द का प्रयोग मनुस्मृति[251] एवं प्रश्नोपनिषद्[252] में भी हुआ है। आगम ग्रंथों में भी यति शब्द का प्रयोग व्रतों का पालन करने वाले साधु के लिये किया गया है।[253] इस प्रकार हम देखते हैं कि 'यति' एवं 'व्रात्य' प्राचीनकाल के बहु-प्रचलित शब्द रहे हैं तथा जिस अर्थ में इन्हें ग्रहण किया गया है वह श्रमण परंपरा का परिचायक है। यही कारण है कि राहुल सांस्कृत्यायन ने इसकी प्राचीनता व विशालता को स्वीकार करते हुए कहा है कि 'ब्राह्मण परंपरा वेद, ब्राह्मण आदि के रूप में हम तक पहुंची, श्रमण परंपरा भी उससे कम विशाल नहीं थी।'[254] जिस समय ब्राह्मण पुराने वैदिक कर्मकांड के जाल को तोड़ कर उपनिषदों की अपेक्षाकृत मुक्त हवा में सांस लेने का प्रयत्न कर रहे थे, उसी समय श्रमणों के पुराने तीर्थंकर स्वतंत्रता का पाठ/चिंतन, दे रहे थे[255] कालांतर में इसी श्रमण विचारधारा से जैन चिंतन-पद्धति का उत्पन्न होना माना गया है।[256] इससे स्पष्ट होता है कि श्रमण परंपरा में यति एवं व्रात्यों का भी विशिष्ट स्थान रहा है तथा जैन धर्म इसकी ही धारा के प्रतिनिधि के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। इस दृष्टि से जैन धर्म बहुत प्राचीन माना जा सकता है।

परंपरानुसार जैन धर्म का प्रारंभ ऋषभदेव से माना गया है जो जैन धर्म के सर्वमान्य 24 तीर्थंकरों में से प्रथम तीर्थंकर थे। इन तीर्थंकरों का उल्लेख कई जैनागमों में मिलता है।[257] ये तीर्थंकर चतुर्विध संघ

---

250. अथर्व., सायणभाष्य, 15/1/1/1; सूक्त 2-18; भास्कर, भागचन्द, जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृ. 12

251. मनु., 2/39

252. प्रश्न. उप., 2/11

253. उत्तरा. सू. 24/12

254. सूत्रकृ., भूमिका, पृ. 4

255. वही, भूमिका, पृ. 6-7

256. Pande, G.C., Studies in The Origins of Buddhism, P. 261

257. 24 तीर्थंकर- 1. ऋषभदेव, 2. अजितनाथ, 3. संभवनाथ, 4. अभिनन्दन, 5. सुमतिनाथ, 6. पद्मप्रभ, 7. सुपार्श्वनाथ, 8. चंद्रप्रभ, 9. पुष्पदंत, 10. शीतलनाथ, 11. श्रेयांसनाथ, 12. वासुपूज्य, 13. विमलनाथ, 14. अनंतनाथ, 15. धर्मनाथ, 16. शांतिनाथ, 17. कुन्थुनाथ, 18. अरहनाथ, 19. मल्लिनाथ, 20. मुनि सुव्रत, 21. नेमिनाथ, 22. अरिष्टनेमि, 23. पार्श्वनाथ, 24. महावीर-आचा. सू., 2/15/739; स्था. सू. 1/249-250, 2/438-445, 3/535, 5/234; समवा. सू. 38/234, 39/237, 40/239, 41/144, 42/247; उत्तरा. सूत्र, 23/1, 5; पद्म पु., पर्व 20

के संस्थापक एवं अनुपम पराक्रम के धनी माने गये हैं।[258] ये धर्म प्रणेता के रूप में मान्य हुए हैं। तीर्थंकरों की यह परम्परा प्राचीन है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का उल्लेख वेदों में भी मिलता है।[259] हिंदू धर्म के ब्राह्मण ग्रंथ, विष्णु पुराण, मत्स्य पुराण आदि में ऋषभदेव का नामोल्लेख उपलब्ध होता है।[260] भागवत पुराण में उनके वंश, जीवन वृत्त, तपश्चरण आदि का वर्णन उपलब्ध है।[261] इससे ज्ञात होता है कि जैन धर्म बहुत ही प्राचीन है एवं परवर्ती काल में यह एक विशिष्ट धर्म के रूप में विकसित हुआ है।

ऐतिहासिक दृष्टि से जैन धर्म के संस्थापक के रूप में तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ[262] को माना जा सकता है। जैन धर्म के चौबीसवें-अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी[263] को उस धर्म का संशोधक कहा जा सकता है, जो पार्श्वनाथ के लगभग 278 वर्ष बाद हुए थे। पार्श्वनाथ की आयु 100 वर्ष मानी गयी है और उनके निर्वाण के लगभग 178 वर्ष पश्चात् महावीर का जन्म ई.पू. 599 चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को रात्रि के अंतिम प्रहर में हुआ था।[264] ये गौतम बुद्ध के समसामयिक थे। इनके पिता राजा सिद्धार्थ और माता त्रिशलादेवी थीं एवं इनका जन्म स्थान कुण्डपुर ग्राम माना गया है।[265] जैन श्वेताम्बर परंपरा में उनकी पत्नी यशोदा, पुत्री प्रियदर्शना और दोहित्री शेशवती का उल्लेख है।[266] परंतु कुछ विद्वान मानते हैं कि आचारांग सूत्र एवं कल्पसूत्र में महावीर के विवाह का वर्णन नहीं आया है।[267] उनका यह मन्तव्य सत्य नहीं माना जा सकता है। कारण यह कि आचारांग सूत्र में 'विण्णाय परिणायए' (विज्ञात-परिणय) शब्द का प्रयोग हुआ है जो स्पष्टतः महावीर के विवाह संदर्भ में है क्योंकि पुनः आगे उक्त ग्रंथ में यह भी कहा गया है कि ये बालभाव से मुक्त होकर उदासीन भाव से पंचेन्द्रिय सुख भोगने लगे।[268] यह कथन

---

258. 'तित्थयरे भगवंते अणुत्तरपरक्कमे अमियनाणी।
    तिण्णे सुगइगइगए सिद्धिपहपदेसर वंदे।' - आव. निर्युक्ति, गाथा 80
    तिथ्यं चाउवण्णो संधो तं जेहिं कयं ते तित्थंकरा।' - आव, चूर्णि, 85
259. ऋग., 4/58/3; 10/166/1; अथर्व., 19/42/4
260. शतपथ ब्रा., 5/2/5/10 : विष्णु पु., 2/1/27; अग्नि पु., 10/10-11; वायु पु., 33/50-52; गरुड़ पु.,।
261. भागवत पु., स्कन्ध 5, अध्याय 1-6
262. समवा. सू., 24/160
263. वही, 24/160
264. भास्कर, भागचंद, जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृ. 20
265. कल्पसूत्रम, 21-27
266. वही, 108-109; सत्यभक्त, 'प्रास्ताविक' महावीर का अन्तस्तल, पृ. 11
267. देवेंद्रमुनि, भगवान महावीर एक अनुशीलन, पृ. 271
268. आचा. सू., 2/15/742

भी महावीर के विवाहित जीवन व्यतीत करने का ही सूचक लगता है। वे तीस वर्ष की आयु में गृह त्याग कर 12 वर्ष तक तपोमय जीवन व्यतीत करने के पश्चात पूर्ण समदर्शी व मर्मज्ञ हुए तथा 527 ई.पू. 72 वर्ष की आयु में समस्त कर्मों का क्षय कर निर्वाण पद को प्राप्त हुए।[269]

महावीर के समय में भारतीय समाज व्यवस्था पर ब्राह्मणवादी परंपरा का साम्राज्य था। यज्ञ, हवन आदि अनुष्ठान प्रमुख थे एवं उस समय बलि प्रथा का प्रचलन अधिक हो गया था। बहुपत्नी प्रथा[270], दहेज प्रथा[271] जैसी कई सामाजिक कुरीतियाँ प्रचलित थीं। मानववृत्ति तप, त्याग, साधना से विमुख होकर भौतिक सुख संसाधनों में ही लिप्त हो रही थी। ऐसे समय में महावीर ने तत्कालीन सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए सामान्य जन मानस को त्यागमय, साधनापूर्ण जीवन शैली द्वारा आत्मशान्ति अर्जित करने के प्रेरक धर्म-सिद्धांत प्रतिपादित किये। उन्होंने युगीन परिवेश को समझकर समाज में प्रचलित कुप्रथाओं को समाप्त करने के लिये उस समय की जनसामान्य की भाषा-प्राकृत में अपने उपदेश दिये थे। उन्होंने ऋषभदेव की कठोर साधना, अरिष्टनेमी की अहिंसा एवं पार्श्वनाथ की विवेकशीलता को अपने आचार-विचार, धर्मसंघ एवं दर्शन का आधार बनाया। अपने जीवन के लगभग अंतिम 30 वर्ष उन्होंने अपनी धार्मिक पद्धति के प्रचार में व तपस्वियों की संस्था के संगठन में व्यतीत किये।[272] जैकोबी के अनुसार उस संस्था को उन राजकुमारों का संरक्षण प्राप्त हुआ जिनके साथ उनका (महावीर का) रिश्ता माँ की तरफ से था।[273] उस समय में (महावीर के समय में) कई अन्य धर्माचार्यों के संघ भी विद्यमान थे जैसे पार्श्व, रामपुत्त, अजितकेश कम्बल, महात्मा बुद्ध आदि के श्रमण संघ एवं कई ब्राह्मण परिव्राजक मंडल अपने शिष्यों के साथ विचरण कर रहे थे। ऐसे समय में महावीर ने अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकांत स्याद्वाद जैसे समन्वयकारी सिद्धांतों से जैन धर्म को शोभित किया।

पार्श्वनाथ व महावीर की आचार परंपरा में अंतर रहा है। पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म की और महावीर ने पंचमहाव्रत धर्म रूप की प्रारूपणा की थी ऐसी मान्यता है।[274] वस्तुतः पार्श्वनाथ एवं महावीर

---

269. राजेंद्र मुनि, चौबीस तीर्थंकर एक पर्यवेक्षण, पृ. 155-156; राधाकृष्णन् भार. दर्शन, भाग 1, पृ. 263

270. उवासगदसाओ, 7/233

271. वही, 8/234

272. राधाकृष्णन्, - भार. दर्शन, भाग 1, पृ. 232-233

273. Jacobi, H., Sacred Books of the East, Part 22, P. 25 and 217; उद्धृत-वही, पृ. 233

274. सूत्रकृ. सू., 2/7/872; समवा. सू., 25/166; स्था. सू., 4/136; उत्तरा सू., 23/12-13, 21-27; ऋषिभाषित, अध्याय 3।

की मान्यता संबंधी जो भेद ग्रंथों में वर्णित है, वह आचार संबंधी मान्यताओं को लेकर है।[275] मूल सिद्धांत विषयक भेद उनमें रहा हो इस संबंध में उल्लेख ज्ञात नहीं होता है। महावीर ने ब्रह्मचर्यव्रत को अपरिग्रह से पृथक स्थान दिया है। मूलाचार में चरित्र, संयम आदि को विशेष महत्व देते हुए चरित्र के पाँच प्रकारों का वर्णन किया गया है।[276] महावीर की दृष्टि से व्यक्ति की अपेक्षा गुण प्रधान थे एवं इस आधार पर उनके द्वारा चतुर्विध संघ की स्थापना की गयी जिसमें 1. श्रमण/साधू 2. श्रमणियाँ/आर्यिका (साध्वी) 3. श्रावक, 4. श्राविका थीं।[277] उपलब्ध स्रोतों के अनुसार महावीर का यह संघ बहुत अधिक समय तक संगठित नहीं रह सका था और कुछ समय पश्चात् कतिपय सैद्धांतिक व आचार संबंधी मतभेदों के कारण क्षेत्रीय विशेषताओं एवं गुरु-शिष्य परंपराओं के आधार पर यह संघ विभक्त हो गया। इसके परिणामस्वरूप अनेक गण, शाखाएँ, कुल आदि अस्तित्व में आये। जैन धर्म के वाङ्मय साहित्य में श्वेताम्बर परंपरा के कल्पसूत्र[278] नन्दीसूत्र[279] की स्थविरावलियों में तथा दिगम्बर परंपरा के प्राचीन ग्रंथ तिलोयपण्णत्ति[280] में इनका उल्लेख है। इनके आधार पर यह भी स्पष्ट होता है कि महावीर के जीवन काल में ही वैचारिक मतभेद की प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी थी और उनके निर्वाण के पश्चात् भी होती रही। जैनधर्म में महावीर से मतभेद रखने वालों को निह्नव कहा गया है। इनमें महावीर के जीवन काल में जमालि[281] तिष्यगुप्त[282] प्रमुख निह्नव हैं। महावीर निर्वाण[283] के पश्चात् विकसित अश्वमित्र[284], गंग[285], रोहगुप्त[286], गोष्ठामाहिल[287],

---

275. पार्श्वनाथ सचेल धर्म (वस्त्र रखने) एवं महावीर अचेल धर्म। [वस्त्र न रखने (दिगंबर)] के प्रतिपादक - उत्तरा. सू., 23/28-33; महावीर का धर्म सप्रतिक्रमण - सूत्रक्. सू., 2/7/872; आव. निर्युक्ति, गाथा 1258; मूलाचार, गाथा 628, साामयिक संयम (छोटी दीक्षा) व छेदोपस्थापना संयम (पूर्वपर्याय का छेदन कर पंच महाव्रतों का आरोपण (बड़ी दीक्षा) - आव. निर्युक्ति गाथा, 1260; मूलाचार, गाथा 535; दशवै सू., 4/17
276. मूलाचार, गाथा 535; आव. निर्युक्ति, गाथा 1260
277. कल्पसूत्रम, संपा. - विनयसागर, सूत्र 133-136
278. वही, सू., 203-223
279. नन्दी सू. 22-31
280. तिलोयप., 4/1488-1504
281. आव. भा. गाथा 125; विशेष भा., गाथा 2306-2308; स्था. सूत्र, 7/140-141
282. विशेष. भा., गाथा 2301, 2336-2355; स्था. सूत्र 7/140-141; आव. भा., गाथा 127; कुछ समय पश्चात् वह पुनः महावीर के संघ में सम्मिलित हो गया – विशेषा. भा., गाथा 2355
283. स्था. सू., 7/140-141; आव. भा., गाथा 129; विशेषा. भा., गाथा 2356-2388
284. स्था. सू., 7/140-141; आव. भा., गाथा 131; विशेषा. भा., गाथा 2389, 2390-2420
285. स्था. सू., 7/140-141; आव. भा., गाथा 133; विशेषा. भा., गाथा 2424, 2425-2450
286. स्था. सू., 7/140-141; आव. भा., गाथा 135; विशेषा. भा., गाथा 2451, 2452-2508
287. स्था. सू., 7/140-141; आव. भा., गाथा 141; विशेषा. भा., गाथा 2509, 2510-2549

शिवभूति[288] (बोटिक मत) आदि निह्नवों के मतों का उल्लेख है।

इन मतभेदों के चलते कालांतर में परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में महावीर निर्वाण के लगभग छः सौ वर्ष पश्चात् जैन धर्म श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दो मुख्य संप्रदायों में विभक्त हो गया। इसका आधार यह है कि महावीर के समय में श्रमणों में सचेल (वस्त्र धारण) एवं अचेल (वस्त्र धारण न करना) दोनों परंपराएँ अस्तित्व में थीं। दिगम्बर संप्रदाय की मान्यतानुसार स्थुलिभद्र के संघ नेतृत्व में भिक्षुओं को वस्त्र, पात्र, दंड आदि रखने की अनुमति दे दी गयी थी जो सचेलक मत के अनुकूल थी। इस प्रकार वस्त्र, पात्र आदि रखने वाले साधु श्वेताम्बर कहलाने लगे और जो साधु अचेल धर्म का पालन करते रहे, जिन्होंने वस्त्र, पात्र आदि का त्याग कर दिया वे दिगम्बर साधु कहलाने लगे।[289] इस प्रकार श्वेताम्बर एवं दिगम्बर संप्रदायों का कालांतर में उदय हुआ। श्वेताम्बर मतानुसार दिगम्बर संप्रदाय की उत्पत्ति बोटिक शिवभूति द्वारा किये गये वस्त्र त्याग से होना माना है।[290]

श्वेताम्बर आचार्य परंपरा (महावीर निर्वाण के बाद) दिगम्बर परंपरा को मान्य नहीं है और दिगम्बरों की आचार्य परंपरा श्वेताम्बरों को मान्य नहीं है। परंतु दोनों परम्पराएँ प्रारंभिक गणधर, गौतम आर्य सुधर्मा, आर्य जम्बू तत्पश्चात् आर्य यशोभद्र और आर्य भद्रबाहु के नामों को समान रूप से स्वीकार करती हैं।[291] शेष आचार्यों के नाम को लेकर दोनों सम्प्रदाय मंत वैभिन्य रखते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि जैन धर्म में स्वतंत्र सम्प्रदायों का विकास बाद का परिणाम है। डा. राधाकृष्णन् भी जैन धर्म के विभाजन के फलस्वरूप श्वेताम्बर एवं दिगम्बर संप्रदाय परंपराओं को ईसा के पश्चात् 79 अथवा 82 वर्ष में होना मानते हैं।[292] स्वामी सत्यभक्त के अनुसार महावीर के समय में सचेल व अचेल दोनों को संघ में स्थान था एवं स्त्रियाँ भी मोक्ष की अधिकारी मानी गयी थीं।[293] शिवभूति ने स्त्री के लिये नग्न रहना अव्यावहारिक मानते हुए पुरुष जन्म लिये बिना स्त्री का मुक्त होना संभव नहीं माना है।[294] स्त्री मुक्ति के संदर्भ में यह मान्यता दिगम्बर संप्रदाय द्वारा स्वीकार की गयी है। अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि जैन धर्म में वर्णित दोनों संप्रदायों का स्पष्ट विभाजन महावीर निर्वाण के बाद का है। दोनों संप्रदाय त्रिरत्नों व पंच महाव्रतों को मानते हैं। इनके मतभेद प्रमुखतः नैतिक सिद्धांतों के व्यवहार के संबंध में हैं। धर्म प्रत्ययों एवं दार्शनिक सिद्धांतों के विषय में नहीं हैं।

---

288. विशेषा. भा., गाथा 2550, 2551-2609

289. हरिषेण, बृहद् कथा कोष, पृ. 4-6; भावसंग्रह, गाथा 52-62

290. आव. चूर्णि, पृ. 427-428

291. कल्पसूत्रम्, 203-223; नन्दी सू., 22-31; तिलोयप., 4/1488-1504

292. राधाकृष्णन्, भार. दर्शन, भाग 1, पृ., 233

293. सत्यभक्त, जैन धर्म मीमांसा, दूसरा भाग, पृ. 326

294. आव. चूर्णि. पृ. 427-428

2. साहित्य

महावीर के द्वारा उपदेशों का कोई लिखित रूप नहीं मिलता है। उनके व्याख्यानों का जो संग्रह किया गया वही श्रुत साहित्य है जिसे बाद में संघनायक सुधर्मा एवं जम्बू स्वामी ने अपनी भाषा प्रदान की है।[295] अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि उस समय के सूत्र सुधर्मा, जम्बू स्वामी के प्रश्नोत्तर रूप में हैं जो किसी तीसरे व्यक्ति द्वारा लिखित होने चाहिये क्योंकि सुधर्मा एवं जम्बू स्वामी स्वयं अपनी अत्यधिक प्रशंसा, आर्य विशेषण, घोर तपस्वी आदि शब्दों द्वारा नहीं कर सकते थे और न ही इस कार्य हेतु किसी अन्य व्यक्ति का उपयोग कर सकते थे।[296] अंतिम श्रुत केवली भद्रबाहु ने तीन वाचनाओं में से प्रथम वाचना दी थी अतः सूत्रों की भाषा केवली भद्रबाहु की भाषा थी[297], यह माना जा सकता है। जैन धर्म में श्रुत के दो भेद हैं: अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य। गणधरों द्वारा शास्त्र रूप में लिखे जाने को अंगप्रविष्ट/द्वादशांग/गणिपिटक आदि कहा जाता है। ये हैं:

1. आचारांग, 2. सूत्र कृतांग, 3. स्थानांग, 4. समवायांग, 5. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), 6. ज्ञातृ धर्मकथा (णायाधम्म), 7. उपासक दशा (उवासगदसाओ), 8. अन्तकृद्दशा, 9. अनुत्त रोपपादिक दशा, 10. प्रश्नव्याकरण, 11. विपाकसूत्र और 12. दृष्टिवाद।[298]

जैन धर्म में गणधरों के बाद (पीछे) होने वाले आचार्यों की रचना को अंगबाह्य के रूप में माना गया है। अंगप्रविष्ट की भांति इसका साहित्य पूर्ण निश्चित नहीं है, अतः उमास्वाति आदि आचार्य इसके नियत भेद के संबंध में कुछ नहीं कहते हैं। वे इनके संबंध में मात्र इतना ही स्पष्ट करते हैं कि वह अनेक प्रकार का है।[299] श्वेताम्बर में इसके दो भेद आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त किये गये हैं। आवश्यक व्यतिरिक्त के दो प्रकार कालिक और उत्कालिक हैं जो नियत समय पर पढ़ा जाए वह कालिक और जो अन्य समय पर पढ़ा जाए वह उत्कालिक है। उत्तराध्ययन आदि 36 ग्रंथ कालिक हैं। दशवैकालिक आदि 28 ग्रंथ उत्कालिक हैं।[300] इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर सम्प्रदाय में बारह उपांग भी प्रचलित हैं।[301]

जैकोबी जैन साहित्य को 41 सूत्र ग्रंथ, 12 निर्युक्तिग्रंथ अथवा टीकाएँ, एक महाभाष्य के रूप में मानते हैं। उनके अनुसार 41 सूत्रों में 11 अंग, 12 उपांग, 5 छेद, 5 मूल एवं 8 कल्पसूत्र जैसे विभिन्न ग्रंथ हैं।[302] वे भी इनका निर्माण श्रुतिज्ञान एवं स्मृतिज्ञान के आधार पर ही मानते हैं।

---

295. सत्यभक्त, जैन धर्म मीमांसा, दूसरा भाग पृ. 300-301
296. वही, पृ. 301
297. वही, पृ. 302
298. वही, पृ. 312; स्याद्. मं., परिशिष्ट, पृ. 297
299. राजवा., 1/20/14
300. नन्दी सू., 43; स्याद्. मं., परिशिष्ट,. पृ. 299
301. सत्यभक्त, जैनधर्म मीमांसा, दूसरा भाग, पृ. 312-388
302. Jacobi, H. Sacred Books of the East, Part 22

वर्तमान में सामान्यतः श्वेताम्बर परंपरा के आप्त ग्रंथों में उमास्वामी का 'तत्वार्थाधिगम सूत्र' (ईसा के पश्चात् 03 शताब्दी में लिखित), सिद्धसेन दिवाकर का 'न्यायावतार' (ईसा के पश्चात् 05वीं शताब्दी में), हरिभद्र का 'षड्दर्शन समुच्चय' (09वीं शताब्दी में निर्मित) ही विशेषतः प्रचलित हैं। दिगम्बर परंपरा के मुख्य धर्मग्रंथों के रूप में कुन्दकुन्दाचार्य का 'पंचास्तिकायसार' (50 वर्ष ईसा पूर्व जो कि सन्देहास्पद समय माना जाता है) है। कहा जाता है कि कुन्दकुन्दाचार्य वास्तव में एलाचार्य हैं और 'तिरुक्कुरल, अष्टपाहुड़ आदि के रचियता हैं, गुणभद्र का 'आत्मानुशासन' (09वीं शताब्दी), विद्यानन्द की 'जैन श्लोक वार्त्तिक', (08वीं शताब्दी), अमितचन्द्र का 'तत्वार्थसार', नेमिचन्द्र का 'द्रव्यसंग्रह' (10वीं शताब्दी), गोम्मटसार जो 5 बन्धों पर संवाद है, 'लब्धिसार' जो प्राप्ति के विषय का प्रतिपादन करता है। 'त्रिलोक सार' व सकलकीर्ति का तत्वार्थसारदीपिका (1464 ई.) तथा मल्लिसेन की 'स्याद्वाद मंजरी' (13वीं शताब्दी) आदि प्रतिष्ठित हैं।[303] इन सब ग्रंथों पर कई टीकाएँ, भाष्य आदि प्रचलित हैं।

3. धार्मिक प्रत्यय :

क. परमसत्ता/परमतत्व :

जैन धर्म में परमतत्व चैतन्य स्वरूप 'परमात्मा'[304] के रूप में निर्देशित हैं। इससे सर्वोत्कृष्ट आत्मा एवं सर्वशक्तिमान का बोध होता है।[305] इस परमात्मा को ही अर्हन्त परमेश्वर कहा गया है।[306] जैन धर्म की मान्यतानुसार निज कारण परमात्मा की भावना से उत्पन्न कार्य परमात्मा, वही अर्हन्त परमेश्वर हैं।[307] इस प्रकार परमात्मा के दो रूप माने हैं एक तो कारण परमात्मा और दूसरा कार्य परमात्मा। इसे ही कार्य कारण परमात्मा कहा है।

यह कारण परमात्मा/परमतत्व जन्म, जरा, मरण से रहित, परम, शुद्ध, ज्ञानादिक स्वभाव वाला, अक्षय, अविनाशी और अच्छेद्य, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्य, पाप रहित, नित्य अचल और निरालम्ब है।[308]

---

303. राधाकृष्णन्, भार. दर्शन, भाग 1, पृ. 234

304. समाधि., 4; मोक्षपा., 4, 5; स्याद. मं., 1; पंचास्ति. सं., गाथा।

305. 'परमात्मा संसारिजीवेभ्य उत्कृष्ट आत्मा! - समाधि., टीका, 6/225/15

306. 'निज कारण परमात्मा-भावनोत्पन्न कार्यपरमात्मा स एवं भगवान् अर्हन् परमेश्वरः।' - नियम सार, ता., 7

307. वही, 7

308. 'जाइजरमरणहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं। णाणइ चउसहावं अक्खयमविणासमच्छेद्यं।। 'अव्वाबाहमणिंदियमणोवं पुण्णपावणिमुक्कं। पुनरा गमणविरहियंणिच्चं अचलं अणालंबं।।' - नियम सार, 177-178

इसलिये उसका कोई उपास्य नहीं है, वही अपने द्वारा उपासना योग्य माना गया है। कहा है कि संपूर्ण पाँचों इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्ति से रोक कर स्थित हुए अंतःकरण के द्वारा क्षणमात्र के लिये अनुभव करने वाले जीवों को जो चिदानन्दस्वरूप प्रतिभासित होता है, वही परमात्मा का स्वरूप है। जो परमात्मा है वही मैं हूँ तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ वही परमात्मा है। इसलिये मैं ही मेरे द्वारा उपासना किये जाने योग्य हूँ, दूसरा मेरा कोई उपास्य नहीं।[309]

जैन धर्म में इस कारण परमात्मा को व्यवहार नय से देहरूप देवालय में बसने वाला परंतु निश्चय से देह से भिन्न मानते हुए, आराध्य देव स्वरूप, अनादि, अनंत, अमूर्त, शुद्ध, सहज एवं केवल ज्ञान स्वरूप माना है।[310] इससे यह स्पष्ट होता है कि जैन धर्म में परमतत्व के रूप में परमात्मा को माना गया है। यह जीव/जीवात्मा से भिन्न, शुद्ध, अनादि व अनन्त, सर्वज्ञ एवं स्वतंत्र प्रत्यय है। इसमें उसे उपाधि व गुण रहित परमेश्वर कहा गया है। परमात्मा का यह रूप हिंदू धर्म के एकेश्वरवादी निर्गुण ईश्वर के प्रत्यय के निकट है। इसे ही एक सर्वोच्च कारण रूप ईश्वर भी माना है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी को भी उपास्य नहीं माना गया है। यह देश कालावच्छिन्न शुद्ध चेतन सामान्य तत्व है, जो मुक्त व संसारी, चींटी व मनुष्य आदि सबमें अन्वय रूप से पाया जाता है। यह कारण परमात्मा जगत के सभी कार्यों को करता है।

जैन धर्म में परमात्मा का दूसरा रूप कार्य परमात्मा का है जो मुक्तात्मा है। जो पहले संसारी था तथा बाद में कर्म बंधन काट कर मुक्त हुआ[311] इस प्रकार यह सादि माना गया है। यह मुक्तात्मा वीतरागी होने के कारण किसी भी कार्य को नहीं करता है।

जैन धर्म में ईश्वर/परमात्मा/परमतत्व को सकल निकल भी कहा गया है।[312] शरीर सहित अर्हंत को सकल परमात्मा तथा शरीर रहित सिद्ध को निकल परमात्मा कहा गया है।[313] इस दृष्टि से सभी

---

309. 'सर्वेन्द्रियाणि संयम्यास्तमितेनान्तरात्मा। यत्क्षणं पश्यते भाति तत्त त्वं परमात्मनः।।' 'यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः। अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः। - समाधि. 30-31

310. 'देहादेवलि जो वसइ देउ अणाई-अणंतु। केवलणाणपुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु 12 - पर. प्र., 1/33; औदयिकादिचतुर्णा भावान्तराणामगो–चरत्वाद द्रव्यभावनोकर्मोपाधिसमुपजनित विभावगुणपर्यायरहितः अनादिनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभाव शुद्धसहजपरमपारिणामिकभाव स्वभावकरणपरमात्माह्मात्मा।' - नियम सार, ता., वृ., 38

311. पर. प्र., 1/15, 24-25

312. कार्तिकेयानुप्रेक्षा., 198

313. वही, 198; समाधि., 2/223/7

10—259 Min. of H.R.D./2005

अरहंतों एवं सिद्धों को परमात्मा स्वरूप माना गया है।[314] कारण कि 'निश्चय से औदारिक, वैक्रियिक, आहारिक, तैजस और कार्मण नामक पांच शरीरों के समूह का अभाव होने से आत्मा निःशरीर है।'[315] यह आत्मा अपने से भिन्न अर्हंत सिद्ध रूप परमात्मा की उपासना/आराधना करके उन्हीं के समान परमात्मा हो जाता है जैसे कि बाँस'वृक्ष स्वयं को स्वयं से रगड़कर अग्निरूप हो जाता है।[316] अतः तत्वतः दोनों में कोई विरोध नहीं माना गया है। इस दृष्टि से प्रत्येक आत्मा परमात्मा है।

जैन धर्म के इस समस्त परमात्मावाद से स्पष्ट है कि ईश्वरकर्त्तावाद के संबंध में स्वीकृत ईश्वर और आत्मा का इस प्रकार का समन्वय किया जा सकता है। उपादन कारण की अपेक्षा करने पर सभी में अनुगत होने से जगत के सभी कार्यों को कारण परमात्मा से करना माना है।

जैन धर्म अपने विभावों (कर्मों के उदय से होने वाले जीव के रागादि विकारी भाव) का कर्त्ता एवं सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को नहीं मानता है।[317] परंतु कर्म को मान लेता है।[318] ऐसी स्थिति मे जैन धर्म एवं जैनेत्तर धर्मों के ईश्वर कतृत्व में नाम मात्र का अंतर रह जाता है।

जैन धर्म में ईश्वर-निर्देश के रूप में कहा है कि केवल ज्ञानादि गुण रूप ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण जिसके पद की अभिलाषा करते हुए देवेंद्र आदि भी जिसकी आज्ञा का पालन करते हैं, वह परमात्मा ईश्वर होता है।[319] 'इंद्रादिक को जो असंभव ऐसे अंतरंग और परम ऐश्वर्य के द्वारा सदैव संपन्न रहता है उसे ईश्वर कहते हैं।'[320] इसे विष्णु, परब्रह्म, ईश्वर, सुगत, शिव और जिन आदि एक हजार आठ नामों से कहे जाने योग्य माना है।[321] यह स्वपर को प्रकाशित करने योग्य है।[322] इस प्रकार परमपद में प्रतिष्ठित परमेष्ठी को ही परमात्मा कहा है।[323] यह परमात्मा पूर्णता की अवस्था है और यही पूर्णता, परमत्व भी। इस पूर्ण एवं परम तत्व रूप को विविध प्रकार से उपास्य माना गया है।[324]

जैन धर्म में विवेचित इस परमात्मा विचार से यह स्पष्ट होता है कि यह धर्म परमतत्व के रूप में परमात्मा/ईश्वर को मानता है। यह परमात्मा/जीव/जीवात्मा से भिन्न, शुद्ध, अनादि व अनंत, सर्वज्ञ एवं

---

314. 'परमप्पा वि य दुविहा अरहंता तह य सिद्धा य।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 192; द्र. सं., 44/49/5
315. नियम सार, ता. वृ. 43
316. समाधि., 97-98
317. स्याद्. मं., 6, पृ. 28-43
318. पर: प्र., 1/66
319. द्र. सं., 14/47/7
320. 'ईश्वरः इंद्रद्यसंभविना अंतरंग बहिरंगेषु परमैश्वर्येण सदैव सम्पन्न :।' समाधि., 6/225/17
321. 'विष्णु.. परमब्रह्म,...ईश्वर,...सुगत,..शिव,.. जिनः। इत्यादि परमागमकथिताष्ठोत्तर रसहस्त्र संख्यनामवाच्य परमात्मा ज्ञातव्यः' – द्र. सं., टीका, 14/47/4; आदि पु., पर्व 4
322. प्रव. सार, 68
323. स्वयम्भू स्रोत, टीका, 39, भावपा., 151
324. महा पु., 67/193; समाधि., 31; पर, प्र., 1/123

स्वतंत्र/निरावलंब माना गया है एवं समस्त उपाधि व गुणों से रहित परमेश्वर सर्वोच्च परमतत्व कहा गया है। कार्य कारण दृष्टि से इसी परमात्मा तत्व का कार्य परमात्मा और कारण परमात्मा रूप में अभिव्यक्त होना माना है। इसे विविध प्रकार से पूज्य माना (यज्ञ, माग, क्रतु, पूजा, इज्या, अध्वर आदि) है।[325] इस पूज्य भाव में आराध्य-आराधक भाव की व्यवस्था मानते हुए भी यह माना गया है कि जो परमात्मा है वही मैं हूं।[326] इस प्रकार आत्मा-परमात्मा में समरस[327] भाव को स्वीकृति दी गयी है। अतः हमारी दृष्टि से जैन धर्म के परमात्मावाद को ईश्वरवाद के निकट मानना संगत होगा। यही पूर्णता की अवस्था है जो जीवन का साध्य मानी गया है।

जैन धर्म में अन्य देव/देवता की अवधारणा भी मिलती है।[328] इन देवताओं का दिव्य एवं कल्याण कारण रूप वर्णित है।[329] ये लोकांतिक (जन्म-मरण से व्याप्त संसार के अंत में) माने गये हैं।[330] इनकी कई संख्याएं मानी गयी हैं।[331] इस प्रकार जैन धर्म में परमतत्व परमात्मा के चिंतन के साथ ही अन्य कई देवताओं में भी विश्वास किया गया है जो इस लौकिक संसार से परे हैं।

ख. शरीरेतर चेतना :

जैन धर्म में 'जीव' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। यह जीवन प्राण शक्ति आत्मा एवं चेतना आदि का द्योतक है। जैन धर्म में जीव विचार ही आत्मा का विचार है जीव का मूल स्वरूप अनादि, अनिधन, अविनाशी, अक्षय, ध्रुव और नित्य माना गया है।[332] उसे अमूर्त्त होने के कारण नित्य कहा गया है।[333] किंतु यह द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और भाव की अपेक्षा अनित्य कहा गया है।[334] महावीर जमालि के साथ प्रश्नोत्तर में अपना मंतव्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'हे जमालि, जीव शाश्वत है। तीनों कालों

---

325. महा. पु., 67/193, 38/32-33; योगशास्त्र, 3/121-131; सत्यभक्त, जैनधर्म मीमांसा, दूसरा भाग, पृ. 184
326. समाधि., 31
327. 'मणु मिलियउ परमेसर हॅं परमेसरू वि मणस्य। बीहि वि समरसि-हूबाहं पुज्ज चडावउँ कस्स।' - पर. प्र., 1/123
328. भग. सू., 12/9/461
329. तिल्लोयप., गाथा 4/518; 3/71; 8/287-299, 641-646; राजवा., 4/25/3
330. वही, 8/615; राजवा., 4/24/1-2
331. वही, 8/624-634; राजवा. 4/25/3
332. भग. सू., 9/6/3/87
333. उत्तरा. सू., 14/19
334. भग. सू., 7/2/273

में ऐसा कोई समय नहीं है जब यह जीव (आत्मा) नहीं था, नहीं है अथवा नहीं होगा। इसी अपेक्षा से यह जीवात्मा नित्य ध्रुव, शाश्वत, अक्षय और अव्यय है। हे जमालि जीव अशाश्वत है क्योंकि नारक मरकर तिर्यंच होता है, तिर्यंच मरकर मनुष्य होता है, मनुष्य मरकर देव होता है। इस प्रकार नानावस्थाओं को प्राप्त करने के कारण उसे अनित्य कहा जाता है।'[335] आचारांग सूत्र में भी स्पष्टतः इसे न मरने वाला और न उत्पन्न होने वाला माना गया है।[336]

यह धर्म आत्मा/जीव को संशय रहित एवं स्वयं सिद्ध मानता है। संशय, विवेक (ज्ञान) आदि जितनी भी बौद्धिक एवं मानसिक क्रियाएं होती हैं वे सब आत्मा (जीव) के कारण ही होती है।[337] वही ज्ञान का अधिष्ठान है, उसी से प्रत्यक्ष होना माना गया है।[338] सुख-दुख आदि आत्मा के ही अनुभव हैं अतः कहा गया है कि जिसके द्वारा जाना जाता है वही आत्मा है।[339] यह आत्मा मूलतः चैतन्य स्वरूप है।[340] जैन धर्म के मतानुसार चैतन्य आत्मा का ही गुण हो सकता है जड़ भूतों का नहीं। जड़ से जड़ की ही उत्पत्ति होती है। उससे चैतन्य की उत्पत्ति संभव नहीं है।[341] प्राणियों (जीवों) का प्राणवान (जीवनयुक्त) होना प्राण अर्थात् जीव अर्थात् आत्मा के ही कारण है। अतः जीव जड़ से (पुद्गल से) से भिन्न है। अनंत चतुष्टय (अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य और अनंत शक्ति) आत्मा के स्वलक्षण माने गये हैं।[342] इस तरह जीव को शरीर से भिन्न, ज्ञाता, स्वतंत्र एवं अमर दर्शाया गया है।

जैन धर्म अनेकांतवादी धर्म है। इसके अनुसार तत्वतः आत्मा एक भी है[343] और अनेक रूप भी हैं।[344] टीकाकारों के अनुसार आत्मा द्रव्यापेक्षा एक है और पर्यायपेक्षा अनेक हैं। महावीर इस संबंध में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए सोमिल ब्राह्मण से कहते हैं कि 'हे सोमिल! द्रव्यादृष्टि से मैं एक हूं ज्ञान और दर्शन रूप दो पर्यायों की प्रधानता से मैं दो हूं। कभी न्यूनाधिक नहीं होने वाले आत्मप्रदेशों की दृष्टि से मैं अक्षय हूं अव्यय हूं, अवस्थित हूं। तीनों कालों में बदलते रहने वाले उपयोग स्वभाव की दृष्टि मैं अनेक हूं।[345] इस दृष्टि से चेतन आत्माएं (जीवात्मा) अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए भी अपने मूल शुद्ध

---

335. वही, 9/6/387; 1/4/42

336. आचा. सू., 1/3/3

337-338. विशेषा. भा., 1571, 1575, 1557-58

339. आचा. सू., 1/5/5/166; उत्तरा. सू., 20/37

340-341. सूत्रकृ. टीका, 1/1/8; प्रव. सार, 2/80

342. स्याद्. मं., पृ. 8

343. समवा. सू., 1/1, स्था. सू., 1/1

344. भग. सू., 2/1

345. भग. सू., 1/8/10

तात्विक चेतन स्वभाव के कारण एक रूप आत्म द्रव्य हैं।[346] अर्थात् शुद्ध आत्मा एक है।

इससे स्पष्ट है कि महावीर जहां एक ओर द्रव्यदृष्टि से आत्मा के एकत्वरूप का प्रतिपादन करते हैं वहीं दूसरी ओर पर्याय दृष्टि से एक ही जीवात्मा में चेतन पर्यायों के प्रवाह रूप में अनेक व्यक्तियों की संकल्पना को भी मानते हैं। जैन धर्म में अन्यत्र कहा भी है कि निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान, दर्शन और चरित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही संवर और योग है।[347] इनके विभिन्न भाव व्यवहार से कहे जाते हैं[348] परंतु शुद्ध निश्चय नय से उस एक अखंड आत्मा में भेद के लिये स्थान ही कहां है।[349] इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन धर्म विशेष व्यवहार नय से चैतन्य के अनेक स्वरूप मानता है परंतु शुद्ध चैतन्य स्वरूप को रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक्-चरित्र) की अपेक्षा से एक ही मानता है।[350]

जैनागमों में विभिन्न पक्षों की अपेक्षा से किये गये आत्मा/जीव के आठ भेदों[351] को सुविधानुसार दो रूपों में भी स्वीकार किया जा सकता है। ये हैं-1. मुक्त जीव (द्रव्यात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा और दर्शनात्मा)-जो तात्विक आत्मा के स्वरूप के ही द्योतक हैं। ये बंधनविहीन हैं। समस्त कर्मक्षय होने पर शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त जीव भी मुक्त कहलाते हैं।[352] 2. बद्ध जीव (कषायात्मा, योगात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा)-जो अनुभव धारित आत्मा-चैतन्य की शरीरयुक्त अवस्था है। यह शरीरयुक्त अवस्था ही बंधन है। व्यावहारिक, परिवर्तनशील एवं विकारयुक्त अवस्था मानी गयी है।

अन्य प्रकार से जीव/आत्मा के दो आधारों पर भेद किये गये हैं। एक तो विवेक क्षमता के आधार पर और दूसरा जैविक आधार पर।[353] विवेक क्षमता के आधार पर आत्माएं दो प्रकार की मानी गयी हैं। प्रथम समनस्क आत्मा-जो विवेक क्षमता से युक्त मन वाली हैं। ये ही नैतिक आचरण द्वारा नैतिक साध्य

---

346. समवा., 1/1; स्था. सू., 1/1

347. समयसार, गाथा 277

348. वही, गाथा 7

349. एकमेव हि चैतन्यं शुद्धनिश्चयतोऽथवा।
कोऽवकाशो विकल्पानां तत्राखंडैकवस्तुनि।।' -पदनन्दि पंचविंशतिका, 4/15

350. तत्वा. सार, 9/21

351. आठ भेद-द्रव्यात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा-भग. सू., 12/10/467

352. मूलाचारवृत्ति, 517

353. जैन, सागरमल, जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 230-231

को उपलब्ध कर सकती हैं, जिनमें शुभाशुभ विवेक की क्षमता होती है और जो वास्तव में संयमन कर सकती हैं। द्वितीय, अमनस्क आत्मा-जो विवेक क्षमता से युक्त मन से रहित हैं एवं जो नैतिक व्यवहार नहीं कर सकती हैं। जिनमें संयम व शुभाशुभ विवेक क्षमता का अभाव होता है तथा एक प्रकार से यंत्रवत क्रियाएं करती हैं।

जैन धर्म जैविक आधार पर बद्ध जीव को स्थावर और त्रस के रूप में वर्गीकृत करता है[354] स्थावर जीव एकेंद्रिय जीव माने हैं। इनमें शारीरिक, स्पर्श, जीवन एवं श्वसन शक्ति होती हैं। ये पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय होते हैं।[355] त्रस जीव शारीरिक, स्पर्श, जीवन, श्वसन शक्ति के साथ एंद्रियिक शक्तियों से भी युक्त हैं। ये द्विंद्रिय (रस, वाक्/स्वाद व वाणी), त्रिंद्रिय (रस, वाक् व घ्राण), चतुरिंद्रिय (रस, वाक्, घ्राण, दृष्टि) तथा पंचेद्रिंय अमनस्क (रस, वाक्, घ्राण, दृष्टि, श्रवण और मनःशक्ति) जीव माने गये हैं।[356] क्रियाओं के अल्पत्व एवं बहुत्व आदि का विचार/निर्णय इन्हीं जैविक शक्तियों की दृष्टि से किया जाता है।

जीव जब उपरोक्त देह जीवन (बंधन) से युक्त होता है तो वही कर्ता और भोक्ता होता है। वही आंख, कान, जीभ आदि से देखता, सुनता एवं आस्वाद करता है, देह युक्त होकर गमन (चलता) करता है।[357] जैन धर्म में स्पष्ट कहा है कि 'आत्मा जिस भाव को उत्पन्न करता है उस भाव का कर्त्ता वह होता है। इसके कर्त्ता होने पर पुद्गल द्रव्य स्वयं ही कर्मरूप परिणमन करने लग जाता है।[358] इसी कर्माधार पर बाद में वह भोक्ता बनता है। इस प्रकार वह दूसरों का किया नहीं वरन् स्वयं का किया ही भोक्ता है।[359] अतः स्पष्ट है कि जैन धर्म जीव को ही कर्त्ता और भोक्ता भी मानता है।

जीव जब कषाय वृत्ति (दूषित वृत्ति) मोह, राग, द्वेष, क्रोध आदि से प्रेरित होकर[360] अजीव पुद्गल (जो स्पर्श,रस, गंध, वर्ण, मूर्तत्व और अचेनत्व के गुण से युक्त है)[361] की ओर आकर्षित होता है

---

354. तत्वा. सू., 2/13; मूलाचार वृत्ति, 5/7

355. वही, 2/31

356. वही, 2/31

357. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा, 183, 186

358. समयसार, 126

359. सूत्रकृ., 2/1

360. प्रव. सार, 175; राजवा., 2/10/2

361. 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः 1' -तत्वा. सू., 5/23

तब इस आकर्षण के कारण पुद्गल कर्म परमाणु के रूप में परिवर्तित होकर जीव की चेतना पर जम जाते हैं और उसका ज्ञान प्रकाश मंद हो जाता है। यह मंदता ही दूसरे शब्दों में बंधन है। इस अवस्था में जीव विभिन्न कर्म करता है।

जैन धर्म में बंधन का कारण आस्त्रव है जो मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों के रूप में होता है।[362] इन्हीं के कारण उसका (जीव का) संसार में आवागमन होता है 'तपश्चर्या, साधना तथा आत्मज्ञान से आस्त्रव का निरोध करना संवर है।[363] यह मोक्ष का मूल कारण[364] और प्रथम सोपान माना गया है। जब जीव समस्त प्रकार के कर्म-पुद्गलों से पूर्णतया वियुक्त (पृथक) हो जाता है तो जीव की वह स्थिति निर्जरा कहलाती है।[365] यही आत्मा का मोक्ष कहलाता है। जैन धर्म में दो मोक्ष स्थितियां मानी गई हैं। एक भाव मोक्ष और दूसरा द्रव्य मोक्ष।[366] भावमोक्ष (जिन परिणामों से निरवशेष कर्म आत्मा से दूर किये जाते हैं उन परिणामों को भावमोक्ष कहते हैं) शुद्धात्मा की उपलब्धि रूप (निश्चयरत्नत्रयात्मक) है।[367] यह केवल ज्ञान की उत्पत्ति/जीवनमुक्ति/अर्हंत पद के रूप में माना गया है।[368] द्रव्यमोक्ष (संपूर्ण कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना द्रव्यमोक्ष है) भावमोक्ष के निमित्त से होना माना गया है।[369] यह विदेह मुक्ति के रूप में माना जा सकता है।

जैन धर्म के अनुसार त्रिरत्न-सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन व सम्यक चरित्र के द्वारा ही मुक्ति संभव है।[370] यही मोक्ष मार्ग का विधान है। द्रव्य मोक्ष न होने तक साधक अर्हंत, वीतरागपूर्ण निष्काम जीवन व्यतीत करता है, ममत्व एवं अहंकार से रहित हो उदासीन (राग-द्वेष से परे) होकर समताभाव रखता है।[371] ऐसा वीतराग सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होता है तथा समस्त कर्मों के क्षय (संवर-निर्जर) होने पर मुक्त हो जाता है।[372]

---

362. तत्वा. सू., 6/1-2

363. वही, 9/1; राजवा., 1/4/3

364. मध्वाचार्य, सर्वदर्शन संग्रह, पृ. 80

365. उत्तरा. सू., 30/5/-9; राजवा., 1/4/3

366. भग. आ., गाथा 38; द्र. सं. 37/154

367. पंचास्ति., ता. वृ., 108/173/10;

368. वही, 150/216/18

369. पंचास्ति., ता. वृ., 108/173/10

370-371. 'सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्राणि मोक्ष मार्गः।' '-तत्वा. सू., 1/2-3; उत्तरा. सू., 28/2; महा पु. 24/120-122

372. उत्तरा. सू., 19/90-93; 33/106-110

जैन धर्म की मान्यता के अनुसार जब तक जीव/आत्मा चेतना शरीर/पुद्गल से पूर्ण वियुक्त नहीं हो जाता है तब तक उसका संसार चक्र में आवागमन होता रहता है। इस आवागमन को जैन धर्म में पुनर्जन्म के रूप में स्पष्ट किया गया है। कहा है कि 'कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात नहीं होता – मेरी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है या नहीं लेने वाली है।'[373] अन्य स्थल पर दो भाइयों के पुनर्जन्म की चर्चा उपलब्ध होती है जिसमें वे दशार्ण देश में दास, कालिंजर पर्वत पर हरिण, मृतगंगा के किनारे हंस और काशी में चांडाल थे।[374] 'संसारी स्थावर प्राणी भी त्रस (जन्मांतर में) हो जाते हैं व त्रस प्राणी भी स्थावर होकर जन्मते हैं।'[375] अज्ञानी जीव अपने ही कर्मों द्वारा विविध रूपों की रचना करते रहते हैं।[376] स्वयं महावीर के पुनर्जन्म/पूर्व भवों का विस्तृत वर्णन[377] मिलता है। वस्तुतः जैन धर्म के वांग्मय साहित्य में पुनर्जन्म की कई कथाएं प्रस्तुत की गयी हैं।[378] यह पुनर्जन्म का क्रम भावमुक्ति व द्रव्य मुक्ति न होने तक चलता रहता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन धर्म शरीरेत्तर चेतना के रूप में जीव/आत्मा को मानते हुए उसे नित्य, अनश्वर, स्वाधीन, शुद्ध ज्ञानमय चेतना के रूप में मानता है। राग-द्वेष, क्रोध, लोभ आदि कषायों से युक्त होकर कर्म करने से जीव पुद्गल से संयुक्त होता है व बंधनमय जीवन व्यतीत करता है। इनसे मुक्त होकर वह भाव मोक्ष एवं द्रव्य मोक्ष (त्रिरत्न साधना से) के द्वारा मुक्ति प्राप्त करता है। जब तक जीव मुक्त नहीं होता है तब तक वह जन्म ग्रहण (पुनर्जन्म) करता रहता है। इस प्रकार जैन धर्म शरीर से भिन्न एवं स्वतंत्र रूप में आत्मा, उसकी अमरता एवं कर्म के आधार पर पुनर्जन्म की धारणा को मान्यता देता है।

ग. कर्मवाद :

कर्म सिद्धांत जैन धर्म का विशिष्ट सिद्धांत है। जैन धर्म चिंतकों ने कर्म के दो पक्ष माने हैं। एक भाव कर्म और दूसरा द्रव्य कर्म।[379] भाव कर्म व्यक्ति की मनोदशा/मानसिक विचारों से संबंधित है। ये जिस निमित्त से होते हैं उन्हें द्रव्य कर्म माना गया है। इस संदर्भ में आचार्य नेमिचंद का कथन है कि

---

373. आचा. सू., 1/1/2

374. उत्तरा. सू., 13/5, 6

375. सूत्रकृ., 2/7/5

376. आचा. सू., 9/1/49

377. महा. पु., 74/14-16, 242-251, 76/534

378. उत्तरा सू., 13/56; 14/4, 5; 19/8, 10; 19/46

379. गोम्मटसार, कर्मकांड, 6

'पुद्गलपिंड द्रव्य कर्म है और उसकी चेतना को प्रभावित करने वाली शक्ति भाव कर्म हैं।'[380] यह द्रव्य कर्म पुद्गल रूप में स्वीकार किया गया है जो जीवात्मा की शुभ-अशुभ प्रकृति (भाव कर्म) के द्वारा उसके साथ बंध जाते हैं।[381] इस प्रकार पुद्गल परमाणु कर्मरूप में परिणत होते हैं उन्हें द्रव्य कर्म कहते हैं।[382] सुख-दुःख आदि अनुभवों अथवा शुभाशुभ कार्य संकल्पों के लिये कर्म परमाणु भौतिक कारण और मनोभाव चैतसिक कारण माने गये हैं। आत्मा में जो मिथ्यात्व (अज्ञान) और कषाय रूप राग-द्वेष आदि भाव हैं वही भाव कर्म माने गये हैं। द्रव्य कर्म सूक्ष्म-सूक्ष्म कर्मण जाति के परमाणुओं का विकार है और आत्मा उसका निमित्त कारण है।[383] यह आत्म शक्तियों के प्रकटन का अवरोधक माना गया है। इसलिये द्रव्य कर्म को आवरण और भाव कर्म को दोष भी कहा गया है। ये दोनों एक दूसरे में निमित्त माने गये हैं तथा इनमे बीजांकुर की भांति कार्य-कारणभाव का संबंध स्वीकार किया गया है।[384]

इस धर्म के अनुसार कर्म के कारण आत्मा/जीव में कषाय भावों का उदय होता है तथा वे पुद्गलों को आकर्षित करते हैं। जो आत्मा को बंधनयुक्त बनाते हैं। कर्मों का क्षय न होने तक यह प्रक्रिया चलती रहती है। इन कर्मों के परिणामस्वरूप जीव का स्वभाव, प्रकृति, मात्रा, जन्म, काल आदि का निर्धारण होना माना गया है।[385] इस प्रकार पुद्गल कर्म का आगमन आस्रव है और यह योग के माध्यम से होता है। जैन धर्म में योग को काय, वचन और मन की क्रिया कहा गया है।[386] अन्य शब्दों में योग कर्म आस्रव का माध्यम है। अतः बंधन का वास्तविक कारण कषाय को माना है। इस संदर्भ में कहा भी है कि 'कषाय सहित होने से जीव कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वही बंध है।'[387] आत्मा में आसक्ति रूपी तेल होने तक कर्म रूपी लो प्रकाशित होती रहेगी[388] माना है।

जैन धर्म में कषायों के कारण होने वाले कर्मास्रव/बंधन एवं उनकी अवस्थाओं के आधार पर

---

380. वही, कर्मकांड, 6

381. नथमल, मुनि, जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पृ. 275

382. देवेंद्रमुनि, जैन दर्शनः स्वरूप और विश्लेषण, पृ. 428

383. जैन, सागरमल, 'जैन नीतिशास्त्र में बंधन और मुक्ति की प्रक्रिया', भारतीय दार्शनिक निबंध, पृ. 302

384. कर्म विपाक, भूमिका, पृ. 24

385. तत्वा. सू., 8/4

386. वही, 6/1

387. वही, 8/2

388. नथमल, मुनि, जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पृ. 281

विभिन्न भेद (प्रकृति, प्रदेश, स्थिति एवं अनुभव)[389] विभिन्न प्रकार से स्वीकृत हुए है।[390] प्रकृति बंधन का अर्थ स्वभाव से है। इसके अंतर्गत ज्ञान, दर्शन, वेदनीय, मोहनीय, आयु, गोत्र, नाम और अंतराय की कर्म प्रवृत्तियों को माना है।[391] ज्ञान, दर्शन, मोहनीय व अंतराय को घाती कर्म (जो आत्मा की स्वभाव दशा को विकृत करते हैं) कहा गया है। ये घाती कर्म जीवनमुक्ति में बाधक माने गये हैं। नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय दशा की उपलब्धि व विकास में बाधक नहीं होते हैं। ये भुने हुए बीज के समान हैं। इनमें नवीन कर्मों को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं होती है। ये समय की परिपक्वता के साथ कर्मफल देकर सहज ही अलग हो जाते हैं। इन्हीं के अनुसार कर्म बंधन होता है। प्रदेश बंधन का अर्थ है-आत्मा में कर्म की मात्रा का बंधन। इसमें आत्मा कषाय के माध्यम से अनेक प्रकार के स्वभाव, गुण एवं प्रभाव के आधार पर कर्म बंधन में बंधती है। इसके अंतर्गत यह निर्धारित होता है कि कितनी मात्रा में कर्म आत्मा में रहेगा।[392] स्थिति बंधन का अर्थ है-अपनी प्रकृति से च्युत न होना। इसके अंतर्गत काल, सीमा (अवधि-निश्चय) मानी गयी है। इस अवस्था में कर्म कर्मफलन होने तक संचित रूप में संगृहीत होते रहते हैं। अनुभव बंधन को फल देने की शक्ति के अर्थ में माना है। इससे फलन के बाद कर्मरस के तीव्र मंद सामर्थ्य को नियत होना माना है।

इन सभी बंधनों के मूल कारण राग (आसक्ति), द्वेष और मोह (अज्ञान) माने गये हैं। राग व द्वेष को कर्म बीज[393] मानते हुए इनका कारण मोह माना है। राग के कारण ही वे द्वेष मानते हैं और राग तथा मोह ही बंधन का प्रमुख कारण है। कुंदकुंदाचार्य लिखते हैं कि आसक्त आत्मा ही कर्म-बंध करता है और अनासक्त मुक्त हो जाता है, यही जिन भगवान का उपदेश है 'योग-कषाय कर्म बंधानि', -इसलिये कर्मों में आसक्ति मत रखो।[394] अन्यत्र भी इन कषायों (राग, द्वेष व मोह) के कारण ही जीवन का दुःखमय होना माना है।[395]

जैन धर्म के अनुसार 'सभी प्राणी अपने-अपने कर्म से निर्मित हैं।'[396] व्यक्ति के शुभाशुभ कर्मों के प्रतिफल में कोई अन्य भागीदार नहीं हो सकता है। संसारी जीव स्व एवं पर के लिये जो साधारण कर्म

---

389. तत्वा. सू., 8/1-3

390. वही, 6/1-6; सूत्रकृ. 2/2/1; उत्तरा सू, 33/23; समवा. सू. 5/4

391. उत्तरा. सू., 33/23

392. गोम्मटसार, कर्मकांड, 89

393. उत्तरा. सू., 32/7

394. समय सार, 157

395. उत्तरा सू., 19/16

396. सूत्र. कृ., 2/3/18

करता है उस कर्म के फल-भोग के समय वे बंधु-बांधव (परिजन) हिस्सा नहीं लेते।[397] प्राणी स्वकृत सुख-दुःख का भोग करते हैं, परकृत का नहीं' यह महावीर द्वारा माना गया है।[398] स्पष्ट है कि व्यक्ति जैसे कर्म करता है वैसे ही फल भोगता है। इस प्रकार कर्मफल की धारणा में पक्षपात को न मानते हुए व्यक्ति के स्वयं के कृत कर्मों का न्यायपूर्ण फलन का भाव समावेशित है। कर्म फलन/विपाक की दृष्टि से पाप, पुण्य और ईर्यापथिक (अकर्मक) कर्म की चर्चा की गयी है। जैन धर्म में पाप और पुण्य को कहीं पर स्वतंत्र तत्व माना है[399] तो कहीं पर स्वतंत्र तत्व नहीं माना है।[400] पर इनके प्रत्यय में विश्वास किया गया है।

जैनाचार्यों के अनुसार जो आत्मा को बंधन में डाले, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनंद का शोषण करे और आत्मशक्तियों का क्षय करे वह पाप है।[401] अर्थात् जो आत्मा को शुभ से बचाता है, वह पाप है। जैसे-असाता वेदनीयादि।[402] इस प्रकार अशुभ योग को पापास्राव का कारण माना है।[403] जो आत्मा को पवित्र करता है, जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है।[404] जैन धर्म के अनुसार बहुप्रमादयुक्त चर्या, कलुषता, विषय लोलुपता/भोगासक्ति/संयमहीनता, अज्ञान, पर को परिताप (पर को दुःख) देना आदि को पाप माना है।[405] मिथ्यात्व, निंदा, परिग्रह, अंहकार, क्रोध, लोभ आदि सभी को पाप कहा है।[406] पूजा (भक्ति) दान, सद्भाव, कारूण्य, सत्य, प्रमाद का त्याग, व्रत-पालन आदि प्रवृत्तियों को शुभ/पुण्य उपार्जन वाली कहा है।[407]

यद्यपि अशुभ कर्म-पाप/कुशील और शुभ कर्म-पुण्य/सुशील कहे जाते हैं, किंतु पुण्य कर्म भी संसार/बंधन का ही कारण है। जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी भी लोहे के समान ही व्यक्ति को बंधन में

---

397. उत्तरा, सू., 13/23; 4/4; 20/23-30

398. भग. सू., 1/2/64

399. उत्तरा. सू., 32/7

400. तत्वार्थ सू., 1/4

401. अभिधान राजेंद्र कोश, खंड 5, पृ. 876

402 'पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्। तद् सद्वेद्यादि।' -स. सि., 6/3; राज. वा., 6/3/5

403. 'अशुभ पापस्य।'-तत्वा. सू, 6/3; 'योगवकता विसंवादन चाशुभस्य नाम्नः।'-वही, 6/22

404. 'पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्य।' - स. सि., 6/3/320; राजवा., 6/3/4

405. पंचास्ति., 139; सूत्र कृ., 1/1/124-29

406. राजवा. 6/22/4; स सि., 6/22/237

407. भग. सू., 7/10/121; स्था. सू., 9; योगसार, अमितगति, 4/37; पंचास्ति., ता. वृ. 108/172/8; स. सि., 6/23/237

रखती है उसी प्रकार जीवकृत सभी शुभाशुभ कर्म भी बंधन के कारण होते हैं।[408] परंतु शरीर मन और बाह्य परिवेश को संतुलित बनाना पुण्य का कार्य माना गया है। शुभ का आस्त्रव पुण्य है[409] और बंधन भी। इस प्रकार पुण्य को आत्मा की पवित्रता से संबंद्ध किया गया है।[410] परंतु अंतोत्वगत्वा ये दोनों बंधन ही हैं। कारण कि इनका कर्मफलन (शुभाशुभ) होता है।

जैन चिंतन में व्यक्ति अपने कर्मों के कर्म फलन मरणोत्तर अवस्था में परलोक में स्वर्ग या नरक के रूप में प्राप्त करता है।[411] पाप करने वाला,[412] अधिक जीवन के लिये दूसरों को कष्ट देने वाला,[413] तुच्छ एवं असंयमी[414] को नरक में जाने वाला माना गया है। इसके विपरीत सदाचरण करने वाले व व्रतों का पालन करने वाले को स्वर्ग जाने वाला माना है।[415] जैन धर्म भूतकालीन जन्मों के शुभ कर्मों को भावी जन्मों में फल देने वाला मानता है।[416] और इसी आधार पर चार प्रकार की योनियों यथा-देव (स्वर्गीय जीवन), मनुष्य, तिर्यंच (वानस्पतिक एवं पशु जीवन), और नारक (नारकीय जीवन) का होना मानता है।[417]

परलोक के विभिन्न रूपों की व्यापक चर्चा जैन धर्म में उपलब्ध होती है।[418] विषय की दृष्टि से इस संबंध में अधिक चर्चा करना अप्रासंगिक होगा अतः इतना ही जानना पर्याप्त है कि जैन धर्म परलोक के अंतर्गत स्वर्ग व नरक की धारणा में विश्वास रखता है।

राग-द्वेष के अभाव में जो कर्म निःसृत होते हैं वे शुद्ध अकर्म या ईर्यापथिक होते हैं। कर्म की यह अवस्था अनासक्त शुद्ध कर्म की अवस्था है। इस अवस्था में शुभ कर्म भी बंधन का कारण नहीं बनते हैं। यह कर्मक्षय (संवर और निर्जरा) ही निर्वाण या मोक्ष का कारण बन जाते हैं। अतः जैन धर्म में शुद्ध, अनासक्त भाव के कर्म को अबन्धक कर्म माना गया है। इस आधार पर आसक्त भाव से किये गये सभी पाप व पुण्य कर्म बंधनकारक हैं परंतु अनासक्ति एवं विवेक से समन्वित होकर ये आस्त्रव या बंधन मुक्ति

---

408. समयसार, 145-146; योगसार, 72; प्रव. सार, 77; पर. प्र., 1/166-167; तत्वा. सार, 4/104
409. तत्वा. सू., 6/4
410. स्था. सू., 1/11-12
411. सूत्र. कृ., 2/5/12-29
412. उत्तरा. सू., 18/25
413. सूत्रकृ, 4/1/3
414. उत्तरा. सू., 17/12
415. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 191
416. स्था. सू., 6/2/7
417. तत्वा. सू., 8/11
418. सूत्रकृ., 2/3/18

का साधन बन जाती है।[419] साधक कषाय भावों से विरक्त, शोकरहित एवं निर्लिप्त हो जाता है।[420] उसका शरीर मात्र क्रियाओं का वाहक होता है।[421] राग-द्वेष निवृत्ति को सम्यक् चरित्र कहा गया है।[422] इसके पालन के लिये पंच महाव्रत (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह), इंद्रिय निरोध, बाह्य व आंतरिक तप (शरीर शुद्धि व अंतः शुद्धि) आदि को आवश्यक माना गया है।[423]

जैन धर्म में मोक्ष/निर्वाण ध्येय की प्राप्ति हेतु संयमपूर्वक चलने को व्यवहार चरित्र (जो प्रवृत्ति रूप है) एवं निश्चय चरित्र (जो निवृत्ति रूप है-रुका हुआ है) कहा गया है। इसके पालन द्वारा ही ज्ञानी जीवात्मा भावों को पवित्र रखकर अपना व्यवहार करता है और अकर्म को उपलब्ध होता है। अकर्म एवं मनोनिग्रह[424] होने पर कर्मास्रव भी रुक जाते हैं क्योंकि कर्मास्त्रव मन-विचार के अधीन है। इस प्रकार अकर्म (ईर्यापथिक) निष्क्रियता नहीं है वरन् अनासक्त भाव से की जाने वाली क्रियाएं हैं[425] जो विवेकपूर्वक (सम्यक् ज्ञान व सम्यक् दर्शन) से संपादित की जाती हैं।[426] इस प्रकार जैन धर्म त्रिविध साधना मार्ग (त्रिरत्न-सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दृष्टि और सम्यक् चरित्र) के साथ सम्यक् तप को मोक्ष-मार्ग के लिये अनिवार्य मानता है।[427] पूर्ण सम्यक् चरित्र होने पर सबका निरोध हो जाता है और साधक अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, अनंत आनंद से युक्त होकर सर्वज्ञ (सर्वज्ञाता) हो जाता है, सिद्ध[428] या तीर्थंकर हो जाता है एवं समस्त कर्मफलों के क्षय होने पर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

इस विवेचन से सारतः स्पष्ट है कि जैन धर्म कर्म के विभिन्न प्रकारों का कषायभाव (राग-द्वेष)/लालसा, भावावेश अनुराग से उदित होना मानता है। इनसे ही आत्मा बंधनमय होती है। इस बंधन अवस्था में व्यक्ति विभिन्न प्रकार के पाप-पुण्य, शुभाशुभ, आदि कर्म करता है और कृत कर्मों के कर्मफलन भी प्राप्त करता है। कर्मफलन जैसा कार्य वैसा फल के रूप में माना है। यह कर्मफलन मरणोत्तर अवस्था में विभिन्न योनियों में जन्म लेने तथा स्वर्ग और नरक प्राप्ति के रूप में होना भी माना गया है। शुभ कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति और अशुभ कर्मों से नरक की प्राप्ति मानी है।

---

419. आचा. सू., 1/4/2/1
420. उत्तरा. सू., 32/99
421. आचा. सू., 1/3/2/4
422. तत्वश्लोकवार्तिक, 1/1/3
423. स. सि., 9/20
424. उत्तरा. सू., 23/58, 24/21; योगशास्त्र, 4/36-39
425. सूत्र. कृ., 2/2/12
426. दशवै., 4/8
427. उत्तरा. सू., 28/2
428. द्र. सं., टीका, 14/42/2

जैन धर्म में पाप व पुण्य कर्मों के चिंतन के साथ ही अकर्म (ईर्यापथिक) का चिंतन भी उपलब्ध होता है। यह राग-द्वेष से परे अनासक्त भाव से विवेकपूर्वक कर्म करने की अवस्था है, इनसे कर्मफलन नहीं होता है। इन अकर्मों के द्वारा एवं पूर्ण कर्म क्षय होने पर ही मोक्ष/निर्वाण प्राप्त होना संभव माना गया है।

घ. जगत :

जैन धर्म जगत के संबंध में व्यापक दृष्टि से चिंतन करता है। वह मूल-सत्तात्मक जगत को नित्य द्रव्य[429] के रूप में मानता है। व्यवस्था की दृष्टि से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल का सत्स्वरूप-सद्भाव माना है।[430] इसका अर्थ है कि इन द्रव्यों की उत्पत्ति व विनाश नहीं होता है। इन छः द्रव्यों को दो भागों में भी विभक्त किया गया है। एक तो जीव और दूसरा अजीव। अजीव में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल को माना है। जो चैतन्य/चेतनात्मक[431] स्वभाव वाले हैं वे जीव और अचेतन/जड़[432] स्वभाव वाले अजीव हैं। जैन धर्म के अनुसार जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म-अधर्म द्रव्य अकृत और अस्तित्वमय हैं तथा लोक के कारणभूत माने गये हैं।[433] इन्हें प्रदेशों के समूहमय होने से अस्तिकाय[434] माना है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन धर्म नित्य जगत की मान्यता में जीव व अजीव-पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल को स्वीकार करते हुए इन्हें लोक के कारण भूत रूप में अनुत्पन्न/अनिर्मित मानता है।

जैन धर्म के अनुसार लोक/आकाश अनादि व अनंत है। आकाश के जितने भाग में जीव-अजीव (छःद्रव्य) का सद्भाव है वह लोकाकाश[435] है। शेष अंतहीन आकाश जो लोकाकाश से परे व शून्य है वही अलोकाकाश है।[436] आकाश (देश) स्वयं अपने आप में गति एवं स्थिति की अवस्था में नहीं है[437] और देश

---

429. पंचास्ति, सं., गाथा 6

430. वही, गाथा 4, 10-11

431. वही, गाथा 109, 124

432. वही, गाथा 124

433. 'जीवा पुग्गलकाया आयासं अत्थिकाइया सेसा।
अमया अत्थित्तमंया कारणभूदा हि लोगस्स।। - वही, गाथा 22

434. वही, गाथा 22

435. तिलोयप., 1/1/134

436. सर्वदर्शन संग्रह, 19-20; पंचास्ति सं., गाथा 90-91

437. पंचास्ति. सं., गाथा 94-95

में जगत सृष्टि के लिये गति एवं स्थिरता की आवश्यकता होती है। अतः धर्म व अधर्म को द्रव्य के निमित्त से होने वाली जीव व पुद्गलों की गति एवं स्थिति के उदासीन कारण रूप में माना है।[438] जैन धर्म के अनुसार जीव द्रव्य शुद्ध, नित्य, ज्ञानमय एवं चैतन्य स्वरूप है।[439] इसके स्वरूप के संबंध में पूर्व पृष्ठों में चर्चा कर चुके हैं अतः यहां वह कहना पर्याप्त होगा कि भौतिक जगत की समस्त वस्तुएं पुद्गल (जड़ परमाणु) से युक्त होकर काल में उत्पन्न होती हैं और आकाश में स्थित होती हैं। इन वस्तुओं में गति और स्थिति (विश्राम) धर्म और अधर्म के कारण ही होती है।

यद्यपि द्रव्य मूलतः सत् माना गया है[440] तथापि प्रकारान्तर से वह असत् भी है। उत्पाद (उत्पन्न), व्यय (नष्ट हो जाना) और ध्रौव्य (स्थित रहना) को द्रव्य का लक्षण/गुण कहा है।[441] यह द्रव्य गुण एवं पर्यायों का आश्रय है।[442] जैन धर्म की मान्यता है कि द्रव्य में गुण नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य/परिवर्तनशील (विनाश, उत्पाद और ध्रौव्यता वाले) होते हैं।[443] अतः द्रव्य की जो सदैव स्थिति (नित्यता) बनी रहती है वह उसके गुणों के कारण रहती है। कारण कि गुण व पर्याय द्रव्य के बिना एवं द्रव्य गुण व पर्याय के बिना नहीं होते हैं।[444] इसका अर्थ है कि गुण व पर्याय द्रव्य में द्रव्यार्थिक आदेश (द्रव्य सत्ता) से रहते हैं और द्रव्य को हम गुण-पर्याय में ही ग्रहण करते हैं (जानते हैं)। इस प्रकार ये परस्पर आश्रय से (अन्योन्यवृत्ति) निर्वाह करते/स्थित रहते हैं। द्रव्य के ये लक्षण द्रव्यसत्ता/द्रव्यार्थिक आदेश से अभिन्न माने हैं। इसलिये जैन धर्म के अनुसार मौलिक द्रव्य सत्ता का न तो उत्पाद होता है और न ही विनाश। वह तो सत् स्वरूप है परंतु उसके पर्याय जो द्रव्य से अभिन्न है वे ही उत्पादित, ध्रौव्य व व्यय होते हैं।[445] स्पष्ट है कि जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक सत् वस्तु प्रतिक्षण परिणमन (आत्मा क्रिया के फलभूत बंध का अनुभव करते हुए ज्ञेयार्थ पदार्थों में प्रवृत्त होता है/रूकता है) करती है। वह एक पर्याय को छोड़कर दूसरे पर्याय को प्राप्त करती है। इस पर्याय परावर्तन के बिना जगत्-सृष्टि संभव नहीं है। अतः लोक में जगत्-सृष्टि के लिये जैन धर्म में सत्ता के विभिन्न अनित्य रूप पर्यायों को-अनंत (अनेक)

---

438. वही, गाथा 95, 84-85, 88

439. उत्तरा. सू., 28/11; पंचास्ति. सं., गाथा 16, 29, 107

440. 'सद् द्व्यम्'-तत्वा सू., 5/29

441. 'उत्पादव्ययध्रोव्य युक्तं सत्-वही, 5/30

442. 'गुण पर्ययवद द्रव्यम्'-वही, 5/38; पंचास्ति, सं., गाथा 10

443. पंचास्ति. सं., गाथा।।

444. वही, गाथा 12-13

445. प्रव. सार, 11; तत्वा. सू., 5/31

चेतना (बद्ध एवं मुक्तजीव), अनंत पुद्गल्-परमाणु, लोकाकाश, धर्म-अधर्म द्रव्य, व्यवहार काल/समय (वर्ष, माह, दिवस, घंटे, मिनिटों आदि) एवं इन सबके असंख्य परमाणु-द्रव्यों को माना है।

जैन धर्म में एक ही द्रव्य को नित्य और अनित्य माने जाने से इसमें संकटदोष उत्पन्न होने की बात कही जा सकती है पर ऐसा मानना उचित नहीं है। कारण कि प्रत्येक द्रव्य में कार्यभेद से अनंत शक्तियों का जो अनुमान किया जाता है उन्हें गुण कहा जाता है और ये अन्वयी स्वभाव से होकर भी सभी कालों (जो व्यावहारिक रूप में विभाजन से) में एक अवस्था में नहीं रहते हैं।[446] इसके अतिरिक्त द्रव्य शक्ति के मूल स्वभाव का कभी नाश नहीं होता है। पुद्गल (भौतिक जड़ द्रव्य) का अस्तित्व अचल होता है।[447] यह पुद्गल द्रव्य-मूल रूप से परमाणु रूप ही है।[448] अनेक परमाणुओं के संयोग से जो संघात/स्कन्ध पिंडात्मक रूप[449] निर्मित होता है उसे संयुक्त द्रव्य कहा है। संघातों का निर्माण व विनाश परमाणुओं के संयोग व विभाग से होता है तथा प्रत्येक पुद्गल सावयव परमाणु गंध, रस, रूप, स्पर्श से युक्त होता है।[450] यह सूक्ष्म होने के कारण अप्रत्यक्षगत होता है किंतु संघात अवस्था में इसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है। इनमें (असंख्य पुद्गलों में) स्वाभाविक स्निग्धता और रुक्षता होने के कारण परस्पर संयोग होता है।[451] शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, भेद, अंधकार, प्रकाश, कार्य आदि सभी पुद्गल द्रव्य सत्ता के ही विशेष/पर्याय हैं।[452] अतः यह कोई भी आकृति ग्रहण कर सकता है। इसे शक्ति का संवाहक माना है।

जैन धर्म के अनुसार जीव के गुण चेतना और उपयोग हैं।[453] ज्ञानानुभूति स्वरूप वह शुद्ध चेतना तथा कार्यानुभूति एवं कर्मफलानुभूति स्वरूप अशुद्ध चेतना है। इस प्रकार मुक्त/सिद्ध जीव का शुद्ध पर्याय एवं देव, नारक, तिर्यंच, मनुष्य आदि अशुद्ध पर्याय हैं। अशुद्ध जीव/आत्मा कषायमय होकर पुद्गल से युक्त और वियुक्त होती रहती है। समस्त विश्व रचना इसी पुद्गल का विस्तार है। जीव की शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं के परिणामस्वरूप कर्म वर्गणाओं के पुद्गलों का आत्मा की ओर

---

446. सिंह, रामजी, 'भारतीय दर्शन में द्रव्य व्यवस्था, भारतीय दार्शनिक निबंध, पृ. 83

447. तत्वा. सू., 5/29

448. पंचास्ति. सं., गाथा 74

449. पंचास्ति. सं., गाथा 74

450. 'स्पर्श रस गंध वर्णवंतः पुद्गला' - तत्वा. सू., 5/24

451. तत्वा. सू., 5/33-34

452. वही, 5/24

453. 'जीवगुणा चेदणाय उवओगो' - पंचास्ति सं, गाथा 16

आना आस्त्रव है इससे ही जगत में जीव का देह जन्म व मरण होता है।[454] इस देह जन्म में यह विभिन्न कर्म पाप-पुण्य (शुभाशुभ) रूप में करता है तथा पुनः कर्मफलन के रूप में विविध सुख-दुःख, जन्म (पुनर्जन्म/भव) आदि प्राप्त करता है। इस जन्म मरण के अंतर्गत वह विभिन्न लोकों[455] अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक में देव, मनुष्य, नारक व तिर्यंच योनियो[456] के रूप में निवास/गमन करता है। इस प्रकार आत्मा का कर्मवर्गणाओं से संश्लिष्ट होना ही बंध/बंधन है। यही बंधन प्राणियों के अस्तित्व का और सृष्टि रचना का मूलभूत कारण है। यह सृष्टि परिवर्तित रूप में होने से अनित्य है।

जैन धर्म के चिंतन की मान्यतानुसार जब जीव के मन, वचन और काया की क्रियाओं के व कषायों के निरोध से कर्म वर्गणाओं के पुदगलों का आत्मा की ओर आना रुक जाना संवर तथा कर्मवर्गणा के पुद्गलों का आत्मा से अलग होना निर्जरा है। जब कर्मवर्गणा के पुद्गल अपना कर्मफलन देकर जीव से अलग होते हैं तो वह सविपाक निर्जरा और तप आदि के माध्यम से जब बिना फल भोगे ही कर्मवर्गणा के पुद्गल आत्मा से अलग कर दिये जाते हैं तो वह निर्विपाक/अविपाक निर्जरा कहलाती है। समस्त कर्मफल कर्ममलन निर्जरित हो जाने पर जीव की जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप स्वाभाविक अवस्था होती है वही मोक्ष है। इस प्रकार जैन धर्म के अनुसार जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बंधन, मोक्ष आदि ये सभी अवस्था तत्व[457] द्रव्य के पर्याय माने जा सकते हैं। शुद्ध नित्य द्रव्य जीव व अजीव तो सत् स्वरूप ही है।

सारतः स्पष्ट है कि जैन जगत का दो तरह से विवेचन करता है। एक तो नित्य सत्ता की दृष्टि से और दूसरा अनित्य सत्ता की दृष्टि से। द्रव्य सत्ता नित्य हैं। जीव और अजीव के प्रकांतर अथवा पयार्य भेद से ही सृष्टि रचना होती है। इस सृष्टि रचना के अंतर्गत जीव कषायवृत्तिमय होकर पुद्गल परमाणुओं से युक्त होकर देह जन्म व मृत्यु को प्राप्त करता है और नाना प्रकार के कर्म करता है। इन कर्म परिणाम के रूप में ही उसके विभिन्न भव-देव, नारक, मनुष्य, तिर्यंच आदि होते हैं। यही भव संसार है जो अनित्य है।

4 जैन धर्म में धर्मसमभाव की अवधारणा :

i. चेतनात्मक आधार पर धर्म समभाव :

जैन धर्म में चेतनात्मक एकता के आधार पर अहिंसा सिद्धांत को स्वीकार करते हुए समभाव को माना है। सभी प्राणियों में जिजिविषा (जीवित रहने की इच्छा) प्रधान है और सभी को सुख अनुकूल एवं

---

454. वही, गाथा 17, 18, 109

455. तिलोयप., 1/1/136; 1/1/168-171; मूलाचार गाथा 1076-1078

456. पंचास्ति. सं., गाथा 55

457. उत्तरा. सू., 28/14; मूलाचार, गाथा 203; समयसार, गाथा 13; पंचास्ति. सं, गाथा 108

11--259 Min. of H.R.D./2005

दुःख प्रतिकूल होते हैं।[458] इसका बोध व्यक्ति स्व-पर आत्म चेतना के स्तर पर होता है। कहा है कि जो अपनी पीड़ा को जान पाता है वही तुल्यता बोध के आधार पर दूसरों की पीड़ा को भी समझ सकता है।[459] सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता है[460] अतः निर्गन्थ प्राणवध (हिंसा) का निषेध किया गया है। जैन धर्म में वस्तुतः प्राणियों के जीवित रहने का भाव ही नैतिक चेतनागत रूप से अहिंसा का आधार है। इसी आधार पर जीवन के प्रति सम्मान, समत्वभावना एवं अभेदगत भावनाएं हैं। इनसे सबके प्रति समानुभूति उत्पन्न होती है। यह भावनाएं जीवन के प्रति भय का निरास करती हैं। समत्व भाव के आधार पर स्थापित अहिंसा भय और वैर से मुक्त साधक या जीवन के प्रति प्रेम रखने वाले सभी प्राणियों को भय एवं वैर से मुक्त करती हैं अतः स्वयं के समान (स्वयं के आत्मा के समान) अन्य जीवों को जानकर उनकी कभी भी हिंसा न करें।[461]

आत्मीयता के भावों को विकसित करने हेतु स्पष्टतः लिखा है कि-जो लोक (अन्य जीव समूह) का अपलाप (हिंसा, हनन) करता है स्वयं अपनी आत्मा का भी अपलाप (हिंसा, हनन) करता है।[462] महावीर चेतनात्मक एकता के आधार पर आत्मीयता के लिये कहते हैं कि 'जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है। जिसे तू शासित करना चाहता है वह तू ही है। जिसे तू परिताप देना चाहता है वह तू ही है।'[463] अतः किसी भी अन्य प्राणी की हत्या वस्तुतः अपनी ही हत्या है और अन्य जीवों की दया अपनी ही दया है।'[464] इस प्रकार 'हिसा का निषेध ही अहिंसा है'[465] को मानते हुए जैन धर्म चिंतन, आत्मवत् दृष्टि को चेतनात्मक एकता का प्रमुख आधार मानता है। चेतनात्मक एकता भाव के विकास के लिये वह सभी प्रकार की द्रव्य/स्थूल हिंसा व भाव हिंसा (सूक्ष्म, विचारगत), शब्द हिंसा आदि का निषेध करता है।

अहिंसा चर एवं अचर सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है।[466] भूत भविष्य और वर्तमान के सभी अर्हंत (मोक्षप्राप्त) यह उपदेश करते हैं कि किसी भी प्राण, पूत, जीव और सत्य को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिये, न किसी का हनन करना चाहिये, यही शुद्ध, नित्य और

---

458. 'अज्झथ जाणई से बहिया जाणई एयं तुलमन्नसिं' आचा. सू., 1/1/7

459. 'सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुःखपड़िकूला', -वही, 1/2/3

460. दशवै., 6/11

461. उत्तरा. सू, 6/7

462. आचा. सू., 1/3/3

463. वही, 1/5/5

464. भक्त परिज्ञा, 93

465. दशवै, निर्युक्ति, 60

466. प्रश्नव्या, सू., 2/1, 21-22

शाश्वत धर्म है। समस्त लोक की पीड़ा को जानकर अर्हंतों ने इसका प्रतिपादन किया है।[467] यही धर्म और ज्ञानी का सार है।[468] यही (अहिंसा) परम धर्म है।[469] अतः जैन धर्म के अनुसार पक्षपात से रहित होकर मन, वचन और कर्म से पंच महाव्रतों का पालन करना चाहिये क्योंकि इससे (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह) लोकहित होता है और ये सब प्रकार से लोकहित के लिये ही है, तीर्थंकरों के ये प्रवचन सभी प्राणियों के रक्षण और करुणा के लिये हैं।[470] इन समस्त विचारों के आधार पर जैन धर्म सभी के प्रति मैत्री, करुणा और मध्यस्थ भावनाओं के विकास को स्वीकार करता हैं। इन्हीं भावनाओं से समाज में अन्य व्यक्तियों के साथ हमारे मधुर (प्रेम व करुणा) एवं सर्वकल्याणकारी (सर्वोदय) संबंध स्थापित होते हैं। शोषण क्रूरता, घृणा, द्वेष आदि सभी उन्हीं के प्रति किये जाते हैं जिन्हें हम अपने समान नहीं मानते हैं। चेतना के आधार पर समभाव के लिये ही जैन धर्म में यह पाठ किया जाता है कि 'हे प्रभु हमारे मनों में प्राणियों के प्रति मित्रता, गुणीजनों के प्रति प्रमोद, दुखियों के प्रति करुणा तथा दुष्ट जनों के प्रति मध्यस्थ भाव सदा विद्यमान रहें।'[471] जैन धर्म में जो समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखे वही श्रमण-माना गया है।[472] अतः साधक सदैव विचार करे कि सब प्राणियों के प्रति मेरा समभाव है, किसी से भी मेरा वैर नहीं है।[473] क्योंकि चेतना (आत्मा चाहे वह हाथी के शरीर में हो, मनुष्य के शरीर में हो या कुन्थुआ के शरीर में हो) चेतन तत्व की दृष्टि से समान ही है।[474] अतः सभी को अपने समान मानकर तृष्णा, आसक्ति, राग-द्वेष आदि प्रत्ययों से परे होकर समभावी आचरण करना चाहिये। समताभाव के बिना मोक्ष न तो किसी को हुआ है और न ही होगा।[475] यह जैन धर्म की दृढ़ मान्यता है।

ii. अनासक्त (राग-द्वेष से परे, निष्पक्ष) भाव के आधार पर धर्म समभाव :

जैन धर्म में नैतिक व आध्यात्मिक साधना की सिद्धि समत्व योग के द्वारा स्वीकार की गयी

---

467. आचा. सू., 1/4/1/127

468. सूत्र कृ., 1/4/10

469. दशवै., 6/9

470. प्रश्नव्या. सू., 2/1/21-22

471. सत्वेषु मैत्री गुणीषु प्रमोदं किलष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
मध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विद्धातु देव!! - अमितगति, सामयिक पाठ

472. प्रश्नव्या. सू. 2/4, उत्तरा. सू., 25/30-33

473. नियमसार, 104

474. भग. सू., 7/8/102

475. अमरमुनि, सामयिक सूत्र, पृ. 63

है। इसे सामायिक भी कहा गया है।[476] यह त्रिविध साधना-मार्ग को अपने में समाहित करती है-सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र। इनके द्वारा चित्तवृत्तियों, बुद्धि और आचरण के समत्व का सिद्ध होना माना गया है। यह भाव ज्ञान और संकल्प को सम बनाने का प्रयास है। जैन धर्म मोह-क्षोभ से रहित आत्मा की अवस्था को सम मानता है।[477] आसक्ति से ही राग-द्वेष, दुःख, सुख, वेदना, आदि होते हैं। साधक पक्षपात रहित होकर समभाव (समान बुद्धि) के द्वारा जीवन और मरण दोनों में किसी प्रकार की आसक्ति न रखें[478] और अंदर तथा बाहर सभी प्रकार की ग्रंथियों से (बंधन रूप गांठों) मुक्त होकर अविचल समाहित भाव से अपनी जीवन यात्रा पूर्ण करता रहे।[479] तृण और कनक (स्वर्ण) में जब समान बुद्धि (समभाव) रहती है तभी वह सम (मध्यस्थ) की अवस्था है।[480] इस अवस्था में निर्द्वंद होकर समस्त संघर्षों से साधक ऊपर उठ जाता है एवं आंतरिक संतुलन स्थापित होने से स्व से अन्यत्र दृष्टि नहीं रखता है, 'स्व' से अन्यत्र रमता भी नहीं और जो 'स्व' से अन्यत्र रमता नहीं है। वह 'स्व' से अन्यत्र बुद्धि भी नहीं रखता है।[481] इस प्रकार ममत्व एवं अहंकार से रहित होकर शुद्ध दृष्टिकोण से (विवेकपूर्वक संपकत्व) सबके प्रति उदासीन वृत्ति से व्यवहार करता है अथवा तटस्थ रहता है।[482] चेष्टारहित अतीव उन्मनीभाव (पूर्ण अनासक्त भाव) को प्राप्त कर लेता है।[483] इस स्थिति में व्यक्ति अथवा साधक संकल्प-विकल्प रहित होकर सबके प्रति एक सा, समभाव का व्यवहार करता है।

iii अन्य धर्मों/मतों के प्रति धर्म समभाव :

जैन धर्म में अन्य धर्मों के प्रति समभाव पूर्ण सद्विचार-व्यवहार रखने में विश्वास करने का चिंतन स्याद्वाद सिद्धांत के द्वारा स्पष्ट होता है।

संस्कृत भाषा में स्यात् शब्द के शायद, संभवतः, प्रश्न-सूचक, कथचित, कदाचित, हो सकता आदि कई अर्थ माने गये हैं किंतु जैन धर्म में स्यात् का प्रयोग 'अनेकांत' के अर्थ द्योतक के रूप में किया गया है।[484]

---

476. आव. नि., 796
477. प्रव. सार., 1/5
478. आचा. सू., 1/8/8/4
479. वही, 1/8/8/11, 14
480. बोधपा., 47; आव. नि., 804
481. आचा. सू., 1/2/6
482. योगशास्त्र, 12/19, 26, 27, 28
483. वही, 12/23-25
484. तत्वार्थवार्त्तिक, 253; आप्त मीमांसा, 103; स्याद्. मं., 5; पंचास्ति, सं., हि. अनु.-मगनलाल, पृ. 32

जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मात्मक होती है-[485] एक ही वस्तु में जिस समय द्रव्य दृष्टि से सत्, एकत्व, सामान्यत्व, नित्यत्व आदि गुण धर्म होते हैं उसी समय उसमें स्व पर्याय दृष्टि से अनेकत्व, अनित्यत्व, विशेषत्व तथा पर पर्याय दृष्टि से असत्व के भी गुणधर्म होते हैं।[486] अतः वस्तु में इन विविध अपेक्षाओं से विविध गुण धर्मों को एकांत निरपेक्ष दृष्टिकोण से नहीं जाना जा सकता है, उसके लिये अनेकांत सापेक्ष दृष्टि अपनाना आवश्यक है। एकांतिक भाषा प्रयोग द्वारा उसके यथार्थ स्वरूप अनेक सहभावी गुणों व अवयवों का बोध व प्रतिपादन नहीं हो सकता है और मिथ्याव दोष उत्पन्न हो जाता है। अतः यथार्थ स्वरूप बोध व कथन के लिये सापेक्ष शब्द स्यात् का प्रयोग करना चाहिये। स्यात् शब्द स्याद्वादी अनेकांतात्मकता का द्योतक है। इसमें वस्तु के स्वरूप को अनेकांतात्मक मानते हुए सप्तभंगी नयों के द्वारा अभिव्यक्त करना माना गया है।[487] इस सिद्धांतानुसार एक धर्म अनेक धर्मों के होने पर भी अस्तित्व रख सकता है। इस प्रकार मुख्य व गौण भाव से सभी धर्मों को जानकर उनके पारस्परिक समन्वयपूर्वक एक वस्तु ज्ञात होती है।[488]

जैन धर्म के अनुसार वस्तु में गुण सापेक्ष होते हैं अतः सत्यता की दृष्टि से उनका कथन भी सापेक्ष दृष्टि से सत्य होना चाहिये। इसके लिये विधेयात्मक, निषेधात्मक तथा अवक्तव्य की दृष्टि से सात प्रकार- स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, और स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य-का नियोजन किया गया है।[489]

सत्य की अभिव्यक्ति के लिये जैन चिंतन यह मानता है कि साधारण मानव का ज्ञान सीमित एवं अपूर्ण है। उसका चिंतन प्रायः ऐंद्रिक सामर्थ्य और तर्कबुद्धि तक ही होता है। इनके माध्यम से पूर्ण सत्य को जानने के उसके प्रयत्न आंशिक सत्य ज्ञान से आगे नहीं बढ़ पाते हैं। मानव जब अपने उस आंशिक ज्ञान को ही एकमात्र सत्य मान लेता है तो वह पूर्ण सत्य न होकर आंशिक सत्य हो जाता है। यदि किसी भी प्रकार ज्ञान की संपूर्ण सत्यता का ग्रहण कर भी लिया जाए तो भी वाणी के द्वारा उसको पूर्णतः अभिव्यक्त (संपूर्ण प्रकाशन) कर पाना असंभव ही होता है।

भावों, अनुभवों व तथ्यों की स्पष्ट अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है और वस्तु के प्रत्येक विशिष्ट प्रकार के गुणों की सत्य अभिव्यक्ति के लिये भाषा में भिन्न-भिन्न शब्द होने चाहिये, किंतु प्रायः नहीं होते

---

485. 'धार्मिणो अनंत धर्मो।' -आप्त मीमांसा, 22

486. आप्त परीक्षा, पृ. 89; समयसार, पृ. 648, राजवा., 2, 7

487. आप्त मीमांसा, श्लोक 104 उत्तरार्द्ध; पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, श्लोक 225

488. युक्तानु., श्लोक 46

489. पंचास्ति सं, हि. अनु. - मगनलाल, पृ. 32, युक्तानु., श्लोक 45

हैं। कितने ही वस्तु गुण ऐसे होते हैं जो पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं हो सकते हैं उनका अनुभव मात्र ही होता है। उदाहरणार्थ-चीनी की मिठास, आम की मिठास, अमरूद की मिठास, शब्दों की मिठास आदि। इन सबकी मिठास को 'मीठा' शब्द से ही संबोधित किया जाता है जबकि प्रत्येक की मिठास दूसरे की मिठास से भिन्न होती है। अतः यह निर्विवाद है कि सत्य व तथ्य की पूर्ण अभिव्यक्ति मानव ज्ञान और भाषाभिव्यक्ति की सीमितता के कारण नहीं हो सकती है। अतः जैन चिंतकों ने सर्वत्र, अपेक्षा भेद से स्यात् शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त माना है।

यह सिद्धांत (स्याद्वाद) सत्य को निरपेक्ष रूप से प्रतिबद्ध करने का दावा नहीं करता है वरन् सापेक्ष रूप से सत्य का निश्चयात्मक स्वरूप स्वीकार करता है।[490] इसलिये वाक्यों को पूर्णतया सुनिश्चित बनाने के लिये 'स्यात्' का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना माना गया है।[491]

जैन धर्म के इस सिद्धांत के आधार पर स्पष्ट होता है कि यह वस्तुवादी एवं अनेकत्ववादी धर्म हैं जो वस्तु स्वरूप के पक्षाग्रहण, सापेक्ष, अनेकत्व के आधार पर तत्व समन्वयवाद को स्वीकार करता है। यह एक प्रकार से अनाग्रह का सिद्धांत है जो प्रत्येक सत्य का सम्मान करता है और मानता है कि सत्य जहां कहीं भी हों, उसका सम्मान करना चाहिये।

वैचारिक आग्रह, मतवाद अथवा पक्षाग्रह की धारणा से विवाद का जन्म होता है तथा इससे जीवन में विग्रह उत्पन्न होता है एवं सत्य का मार्ग अवरुद्ध होता है। यह चिंतन (जैन चिंतन) समस्त ज्ञान को सत्य मानते हुए प्रत्येक एकांत पक्ष का निषेध करता है। सूत्र कृतांग में कहा गया है कि 'जो अपने-अपने मत की प्रशंसा और अन्य के मत की निंदा करने में ही अपना पांडित्य दिखलाते हैं और लोक को सत्य से भटकाते हैं वे एकांतवादी स्वयं संसार चक्र में भटकते रहते हैं।[492] प्रत्येक 'वाद' राग-द्वेष की वृद्धि करने वाला है।[493] 'सच्चा अनेकांतवादी किसी दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह संपूर्ण दृष्टिकोण (दर्शनों) को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को क्योंकि अनेकांतवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी वही है जो स्याद्वाद का आलंबन लेकर संपूर्ण दर्शनों में समान भाव रखता है। मध्यस्थ भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद है। मध्यस्थ भाव रहने पर शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों का

---

490. आप्त मीमांसा, 108

491. श्लोकवार्त्तिक, 1/6/53; युक्तानु., 41-42

492. 'सयं सयं पसंसंता गरहंता परं वयं।

जे उ तत्थ विउस्सन्ति संसारे ते विऽस्सिया - सूत्र कृ., 1/1/2/23

493. आचा. चूर्णि, 1/7/1

ज्ञान भी वृथा है।[494] जो विरोधियों के प्रति तटस्थता रखता है वही विश्व के विद्वानों में अग्रणीय है।[495] समत्वभाव में ही सच्चा धर्म व्यक्त होता है।[496] जैनाचार्य हरिभद्र कहते हैं कि जो स्वार्थ वृत्ति से ऊपर उठ गया है, जो लोकहित में निरत है, जो विश्व स्वरूप का ज्ञाता है और जिसका चरित्र निर्मल और अद्वितीय है, वह चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हरि हो, शंकर हो, मैं उसे प्रणाम करता हूँ। मुझे न जिन के वचनों का पक्षाग्रह है और न कपिल आदि के वचनों के प्रति द्वेष; युक्तिपूर्ण वचन जो भी हो, वह मुझे ग्राह्य है।[497] इन सभी कथनों से यह स्पष्ट होता है कि धर्म समभाव के अंतर्गत देश काल के आधार पर अभिव्यक्त सभी धर्मों के विचारों की सत्यता को अनाग्रह पूर्वक स्वीकार करता है। उनका आदर करता है।

लेकिन जैन धर्म में धर्म समभाव का अर्थ मात्र विश्वासपूर्ण आदर भाव नहीं है। वह मानता है कि मिथ्या विश्वासों अथवा झूठे विकल्पों को मानने वाला मूढ़ है।[498] संशय रहित सत्य, ज्ञान की प्राप्ति अमूढ़ दृष्टि से ही संभव है। अंधानुकरण, लोकमूढ़ता, आदि का त्याग कर योग्य और अयोग्य के मध्य निर्णय करना चाहिये।[499] यथोचित बोध के आधार पर दृष्टिकोण निर्मित करना चाहिये।[500] अतिचार का त्याग करना चाहिये।[501] धर्म की समीक्षा प्रज्ञा के द्वारा करने और तर्क से तत्व का विश्लेषण कर धर्म को स्वीकार करना चाहिये।[502] इस प्रकार तर्क के द्वारा निष्पक्ष विश्लेषण का प्रतिपादन किया गया है। यह युक्तिपूर्ण सत्य अथवा वचन स्वीकार करने को धर्म समभाव की आधारभूत मान्यता के रूप में मानता है और विवेक को महत्व देता है।

इस प्रकार जैन धर्म में समभाव के पालन हेतु सत्य के स्वरूप को समझने का एकमात्र साधन ज्ञान को ही माना गया है। ज्ञान, अज्ञान एवं मोहजन्य अंधकार को नष्ट कर सर्व तथ्यों (यथार्थता) को प्रकाशित करता है।[503] अतः सबके प्रति सत्य, यथार्थ दृष्टिकोण अपनाते हुए सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दृष्टि

---

494. उपाध्याय, यशोविजय, अध्यात्मसार, 69-73

495. आचा. सू., 1/4/3

496. विशेषा, भा., 954

497. लोकतत्व निर्णय, 1/37, 38

498. समयसार, 20, 21, 22

499. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, 23

500. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 28

501. तत्वा सू., 4/21

502 उत्तरा. सू., 23/25

503. उत्तरा. सू., 32/2

के आधार पर सम्यक् चरित्र (नैतिक आचरण, व समभावी व्यवहार) का व्यवहार करना चाहिये।

3.3 बौद्ध धर्म :

गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध धर्म श्रमण विचारधारा से उत्पन्न धर्म है।[504] गौतम बुद्ध के उपदेशों में हमें सद्धर्म[505], धर्म[506], बुद्ध/बुद्धों का उपदेश[507], आर्य प्रवेदित[508] आदि का उल्लेख मिलता है। परंतु प्राचीन स्तर के साहित्य में 'बौद्ध धर्म' शब्द का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है।

बौद्ध शब्द की उत्पत्ति संस्कृत शब्द 'बुद्ध' से मानी जा सकती है। कारण कि प्राचीनकाल से ही संस्कृत में बुद्ध[509] एवं बुध[510] शब्द का प्रयोग 'जागरण' के अर्थ में किया जाता रहा है। पालि भाषा के धम्मपद में भी बुद्ध शब्द का प्रयोग व अर्थ ज्ञानी, धर्मज्ञ, अवगमन आदि किया गया है किंतु मुख्य अर्थ 'जागरित' अथवा 'जागरण' से ही है, जो अकर्मत्व (निष्काम) को सिद्घ करता है।[511] अर्थ लक्षणा से इसका तात्पर्य 'तत्वज्ञान' या 'धर्म' से (में) प्रबुद्ध, जागरित व्यक्तियों के उपदेशों को ही 'बुद्ध धर्म' और हिंदी भाषा शब्द 'बौद्ध धर्म' के रूप में स्वीकृत हुआ है। यह पूर्णत्व बोध/अशेषज्ञान संपन्न गौतम बुद्ध/तथागत गौतम की उपाधि के रूप में प्रसिद्ध होने के कारण कालांतर में बौद्ध धर्म (गौतम बुद्ध का धर्म) के नाम से प्रतिष्ठित हुआ।

1. ऐतिहासिक स्वरूप :

बौद्ध धर्म के प्राचीन स्तर के साहित्य में 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग बहुवचन में संज्ञा शब्द की भांति किया गया है। यह किसी व्यक्ति विशेष का रखा गया नाम नहीं है वरन् ज्ञान व धर्म के विशेष गुणों तथा विशेष अवस्थाओं को अभिव्यक्त करने वाला शब्द है-यह उसके प्राचीन साहित्य से स्पष्ट होता है।[512] बौद्धशास्त्रों के अनुसार गौतम बुद्ध (सिद्धार्थ गौतम बुद्ध) के पूर्व भी अनेक बुद्ध अवतीर्ण हुए और

---

504. Pande, G.C., Studies in the origins of Buddhism, P. 261, 321

505. धम्मपद्, 5/60; 14/182, 193, 194

506. वही, 2/24; 19/257

507. वही, 14/179; 183

508. वही, 6/79

509-510. बृह. उप., 4/3/19; रघुवंश, 10/6

511. पाणिनी, 3/4/72; पालि धातुपाठ, 858, 1172, उद्धृत-गुप्त, कच्छेन्दी लाल, धम्मपद, पृ. 99

512. परिसम्भिदामग्ग, पृ. 202; महानिद्देस, पृ. 399-उद्धृत-धम्मपद, पृ. 101

उनके बाद भी अनेक बुद्ध अवतीर्ण होंगे ऐसा माना जाता है।[513] दीर्घ निकाय में सात बुद्धों[514] और बुद्वंश में इन सात बुद्धों के पूर्ववर्ती अठारह बुद्धों[515] का उल्लेख मिलता है।

बौद्ध पालिशास्त्रों के अनुसार दो प्रकार के बुद्ध होते हैं। पच्चेक बुद्ध-जो बोधि को प्राप्त करते हैं किंतु लोक के अन्य लोगों/जीवों के कल्याणार्थ सद्धर्म का प्रचार-प्रसार नहीं करते हैं और सम्मासंबुद्ध-जो लोक जीवों के कल्याणार्थ धर्म का प्रचार-प्रसार करते हैं। इसलिये सम्मासंबुद्ध 'सत्था' (शास्ता) और 'भगवा' (भगवान) भी कहलाते हैं। इन्हें देवों और मनुष्यों से श्रेष्ठ माना है।[516] उल्लेखित सभी बुद्ध सम्मासमबुद्ध माने गये हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गौतम बुद्ध भ बौद्ध धर्म के अनेक बुद्धों में से एक है।

गौतम बुद्ध का जन्म कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन[517] के यहां लगभग 563 वर्ष ईसा पूर्व उनके मातृगृह लुंबिनी में माना गया है।[518] बाल्यावस्था में उन्हें सिद्धार्थ कहा जाता था। 29 वर्ष की आयु में पत्नी-यशोधरा (शाक्यपुत्री गोपा), पुत्र-राहुल एवं राजप्रासाद का त्याग कर वैराग्य-उद्वेग से प्रेरित हो काषाय धारण किया।[519] उनके जीवन की यह घटना 'अभिनिष्क्रमण' कहलाती है।[520] अपने परिवार को परित्यक्त करने के पश्चात् उन्होंने भ्रमण के दौरान तत्कालीन प्रतिष्ठित श्रमण आचार्य आलार कलाम, उद्वव रामपुलत (रामपुत्र) आदि से ग्रहण करने योग्य को (ज्ञान) ग्रहण किया।[521] कालांतर में विविध साधनाओं एवं तपश्चर्याओं के पश्चात् ध्यान-समाधि आदि के अभ्यास से उनमें 'संबोधि' (सत्य बोध) का उदय हुआ।[522] इस प्रकार संबोधि के उदय से वे संबुद्ध कहलाये।

513-514. सात बुद्ध-विप्पस्सी, सिखी, वेस्सभू, ककुसन्ध, कोणागमन, कस्सप, गौतम-दीर्घ नि., भाग 2 पृ. 3

515. पूर्ववर्ती अठारह बुद्ध-दीपंकर कोण्डिञ्ञ, मंगल, सुमन, रेवत, सोभित, अनोमदस्सी, पदुम, नारद, पदुमुत्तर, सुमेध, सुजात, पियदस्सी, अत्थदस्सी, धम्मदस्सी, सिद्धत्थु, तिस्स और फुस्स-धम्मपद, टिप्पणी पृ. 101

516. मज्झिम., 1/389

517. विनय पिट्टक, महावग्ग, पृ. 86 (नालंदा देवनागरी पालि ग्रंथ माला में प्रकाशित)

518. बुद्ध की जन्मतिथि के संबंध में विद्वानों में मतभेद रहा है-द्रष्टव्य-राधाकृष्णन्, भार, दर्शन, भाग 1, पृ. 280; Tamos, The Life of Budha, P. 57

519. ललित वि., परि. 14, 15; बुद्धचरित, सर्ग 3

520. 'स्कूनतिंसो वयसा सुमद्दयं पब्बजिं किं कुसलानुएसी। वस्सानि पञ्चाचाससमाधिकानि यतो अहं पब्बजितो सुभद्द।। - दीर्घ नि., महापरिनिब्बानसुतन्त, ललित वि. 15

521. मिश्र, प्रभाकर, 'बौद्ध एवं ब्राह्मण समाज', परामर्श, मार्च 1988, पृ. 173

522. अभिधर्मकोश, 6/67; ललितवि; परि., 17, 18; 22-24

गौतम बुद्ध ने सम्यक् संबुद्ध होने/बुद्त्व प्राप्ति के पश्चात् समस्त संसार को शोकमग्न (दुःखी) अनुभव किया और लोककल्याण के लिये प्रेरित हुए।[523] इसके लिये उन्होंने सर्वप्रथम ऋषिपतन मृगदाव, बनारस (सारनाथ)[524] में पंच भद्रवर्गीय (पांच भिक्षु) भिक्षुओं को धर्मोपदेश कर 'धर्म चक्रप्रवर्त्तन' किया।[525] तत्पश्चात् लगभग 44 वर्ष तक वे धर्म एवं भिक्षु संघ की प्रतिष्ठा हेतु अनवरत प्रचार-प्रसार कार्य करते रहे।[526] इस अवधि में तत्कालीन वैदिक व ब्राह्मणवादी धर्म और सामाजिक परंपराओं की कट्टर एवं रूढ़िवादी विधि-विधानों, हिंसा, छुआछूत आदि को अस्वीकार किया। उनके अनुसार शास्त्रों का बहुत भाषण करने वालों, प्रतिमास दक्षिणा देकर यज्ञ करने वालों, सौ वर्षों तक वन में अग्नि की परिचर्या, पूजन, हवन, यज्ञ करने वालों की अपेक्षा परिशुद्ध मन वाले व्यक्ति की क्षण भर की आराधना (पूजा) अधिक श्रेष्ठ है।[527] शांतिपूर्वक विचरण करने वाला, जितेंद्रिय, संयम का पालन करने वाला तथा समस्त प्राणियों के प्रति दंड का त्याग करने वाला ही ब्राह्मण है, श्रमण है, भिक्षु है।[528] 'ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुआ एवं संग्रह करने वाला व्यक्ति ब्राह्मण नहीं है। पर जो अकिंचन है एवं लेने की इच्छा नहीं करता है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।[529] न जटाओं से, न गोत्र से और न ही जन्म से मनुष्य ब्रह्मण होता है।[530]

इन कथनों से यह स्पष्ट होता है-गौतम बुद्ध जातिगत एवं परंपरागत आधार पर उत्पन्न ब्राह्मण वर्ण तथा उसके द्वारा किये जाने वाले पुरोहित एवं याज्ञिक कर्मकांड के विरुद्ध थे। उन्होंने समाज पर एवं ज्ञानकांड पर हावी कर्मकांड का विरोध कर सहज एवं सरल नैतिक/सदाचरणपूर्ण मानवीय मूल्यों की रक्षार्थ लोगों को प्रेरित करना अधिक उचित समझा। इसके लिये उन्होंने दुःख के संबंध में चिंतन कर दुःख, दुःख समुदाय, दुःख निरोध और निरोध मार्ग (चार आर्य सत्य) प्रस्तुत किये।[531] उनका प्रमुख उद्देश्य आडंबरहीन सद्धर्म की स्थापना करना था। इसके लिये समस्त अतिचारों का निषेध करते हुए मध्यम मार्ग के रूप में अष्टांग मार्ग को प्रतिष्ठित किया।[532] इस प्रकार गौतम बुद्ध ने लोक सेवा हेतु धर्म

---

523. मज्झिम नि., 1/2/8, संयुक्त नि., 1/13/8; ललित वि., परि., 23, 24, 25

524-525 ललित वि., परि. 26/1449-1467; 25; Sacred Books of the East, Jild 13, P. 94; Barth, A., Religion of India, P. 105

526. ललित वि., प्रस्तावना, पृ. 9-10; पाण्डे, गोविंदचंद्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. 54-57

527. धम्मपद 8/100, 106, 107, 108

528. वही, 10/142

529. वही, 26/396

530. वही, 26/393

531. ललित वि., परि. 22, 26/1449-1458

532. सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि। - वही, पृ. 783

प्रचार करते हुए (483 ई.पू.) 80 वर्ष की आयु में कुशीनगर के निकट शालवन में महापरिनिर्वाण में प्रवेश किया।[533]

गौतम बुद्ध द्वारा धर्म प्रचार हेतु जो संघ स्थापित किया गया था वह उनके पश्चात् सैद्धांतिक आधार पर हीनयान और महायान संप्रदायों में परिवर्तित हो गया। शनैःशनैः ज्ञान भेद की दृष्टि से उनमें भी भेद चिंतन होने से वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार/विज्ञानवादी और माध्यमिक/शून्यवादी-ये चार संप्रदाय विकसित हुए।[534]

बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार, ह्रास आदि इतिहास का विषय है तथापि संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म लगभग 12वीं शताब्दी तक भारत में बना रहा तथा नालंदा, विक्रमशिला, तक्षशिला आदि इसके प्रमुख केंद्र रहे हैं। मौर्य सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर उसे राज्याश्रय प्रदान किया। उसके पुत्र महेंद्र एवं पुत्री संघमित्रा द्वारा भारत के बाहर सिंहल देश में उसका प्रचार प्रसार किया गया। इस प्रकार सम्राट अशोक द्वारा इसे विश्वधर्म के रूप में परिणत किया गया।[535] उसके द्वारा कई अभिलेख, स्तूप, विहार आदि का निर्माण कराया गया। बौद्ध धर्म को भारत में कई सम्राटों का राजाश्रय प्राप्त हुआ तथा तिब्बत, चीन, जापान, बर्मा, थाइलैंड, कोरिया, जावा, सुमात्रा आदि देशों में यह प्रचारित एवं विकसित हुआ।[536] इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म का सर्वत्र (देश-विदेश में) व्यापक प्रचार एवं प्रसार हुआ।

2 साहित्य :

गौतम बुद्ध ने स्वयं कोई ग्रंथ नहीं लिखा। प्रारंभ में बुद्ध वचनों को स्मृति रूप में सुरक्षित रखा गया। उपलब्ध सूत्रों के आधार पर उनके परिनिर्वाण के पश्चात् राजगृह में शीघ्र ही 477 ई.पू. की गयी सभा (बौद्ध संगति) में बुद्ध वचनों (विनय एवं धर्म के सूत्रों) का संकलन कर लिपिबद्ध किया गया। ये आगे चलकर थेरवाद के सिद्धांत हुए। इसके पश्चात् बुद्ध-निर्वाण के सौ वर्ष के अनंतर 377 ई.पू.

---

533. पाण्डे, गोविंदचंद्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. 58-59

534. राधाकृष्णन्, - भार. दर्शन, भाग 1, पृ. 502

535. विसेंट स्मिथ, अशोक, पृ. 22, उद्धृत- राधाकृष्णन्, भार. दर्शन, पृ. 478; पाण्डे, गोविंद चंद्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. 200

536. राधाकृष्णन्, भार. दर्शन, भाग 1, पृ., 478-480; पाण्डे, गोविंदचंद्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. 455-456

वैशाली में द्वितीय संगति (सभा) हुई।[537] पाटलीपुत्र में हुई तृतीय संगति में बौद्ध धर्म शास्त्रों की प्रमाणिकता निश्चित की गयी। उन्हें पालि त्रिपिटक अर्थात् तीन पिटारी कहा गया है।[538]

प्रारंभिक संगति की प्रमाणिकता के संबंध में ऑल्डेनबर्ग, फ्रांके, फ्राउवाल्नर, नलिनाक्षदत्त आदि विद्वान विविध मत प्रस्तुत करते हैं।[539] ऑल्डेनबर्ग यह तर्क देते हुए कि महापरिनिर्वाण सूत्र इस विषय में मौन है अतः उसे वे विशुद्ध कल्पना मानते हैं। फ्रांके उसे अंततः महापरिनिर्वाण सूत्र पर ही आधारित मानते हुए अप्रमाणिक मानते हैं।[540] विद्वानों की प्रामाणिकता संबंधी मान्यताएं चाहे जो भी हो चुलवग्ग व विनय पिटक के अध्ययन से इतना तो स्पष्ट ही है कि निर्वाण पश्चात् तत्कालीन भिक्षु-संघ में जो मतभेद, अविनय एवं अधर्म प्रकट हो रहा था उसे समाप्त करनें तथा एकता के सूत्र में बांधने के लिये बुद्ध वचनों को तत्काल ही लिपिबद्ध करने का प्रयत्न किया गया तथा इसमें भिक्षु महाकाश्यप एवं आनंद की महत्वपूर्ण भूमिका रही। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि उनके इस प्रथम प्रयास के अनंतर ही प्रामाणिकता की सीढ़ियां चढ़ते हुए सर्वप्रथम विनय पिटक का संग्रह हुआ। इसके पश्चात् सूत्त पिटक (सुतंत पिटक) एवं अभिधर्म (अभिधम्म पिटक) का संग्रह किया गया। इस प्रकार त्रिपिटक साहित्य लिपिबद्ध हुए। विनय पिटक में संघ शासन-अनुशासन के नियम, भिक्षु-भिक्षुणियों की जीवनचर्या का वर्णन, आज्ञा आदि है। सुत्त पिटक में बौद्ध धर्म सिद्धांतों एवं बुद्ध की संगोष्ठियों का वर्णन है। पालि सुत्त पिटक पांच निकायों यथा-दीर्घनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तर निकाय एवं खुद्धक निकाय में विभक्त है। ये सभी अनेक सूत्तों (सूत्रों) के रूप में विकसित हुए हैं।

खुद्धकनिकाय के 15 ग्रंथ हैं-खुद्धक पाठ, धम्मपद, उदान, इत्तिवुत्तक, सुत्तनिपात्त, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्धेस, पटिसंभिदा, अपदान, बुद्धवंश, एवं चरियापिटक।[541] त्रिपिटक साहित्य पर बुद्धघोष, धम्मपद आदि ने अट्ठकथा नामक टिकाएं लिखी हैं।

बुद्धघोष का विशुद्धिमग्ग और मिलिंद प्रश्न महत्वपूर्ण हैं। साथ ही ललित विस्तार, सद्धर्मपुंडरीक, बौधिचर्यावतार, पालि व्याकरण कोश आदि ग्रंथों के अतिरिक्त विभिन्न संप्रदाय आचार्यों ने भी कई ग्रंथ रचनाएं की हैं। इस प्रकार बौद्ध धर्म में विपुल साहित्य पाया जाता है।

---

537. विनय पिटक, चुलवग्ग, 12; दीपवंश, 4-5

538. गुप्त, कच्छेंदी लाल (हि. अनु.), धम्मपद, पृ. 29; Barth, A,. Religions of India, P. 102

539. पाण्डे, गोविंदचंद्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. 155

540. वही, पृ. 155-156

541. वही, पृ. 232

3 धार्मिक प्रत्यय :

क. परमसत्ता/परमतत्व :

प्रकटतः बौद्ध धर्म किसी नित्य स्थायी सत्ता के विषय में मौन है। गौतम बुद्ध ने शाश्वत् एवं अशाश्वत्, अंतवान एवं अनंत सत्ताओं के प्रश्नों के संबंध में 'अव्याकृत' स्थापित किया है।[542] तथापि परमार्थ सत्य को परमसत्य (परमसत्ता) के रूप में मानने का वर्णन मिलता है। इस परमार्थ सत्य को निर्वाण और निर्वाण को धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। कहा है कि परमार्थ की प्राप्ति न होने पर निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती।[543] यह निर्वाण शांत, अतर्कावचर, ध्रुव, अजात, असमुत्पन्न (उत्पन्न न होने वाला), अशोक, विरज पद है।[544] इस प्रकार उसे ही परम सत्य एवं नित्य कहा है।[545] वह रूप-अरूप आदि सभी से परे है।[546] वहां से शब्द निवृत हो जाते हैं।[547] गौतम बुद्ध का यह परमतत्व बोध ही सम्यक् सम्बोध है। इसे अमृत का तथा अमृत (अनश्वर) की ओर ले जाने वाले मार्ग का साक्षात्कार कहा है।[548] आगे इसे गंभीर, अथाह, दुर्दश, द्वैत-भाव से रहित, दुरनुबोध, मनन व अमनन से परे, दुर्विज्ञेय माना है, क्योंकि वह ज्ञान तथा विज्ञान की समता से युक्त है।[549] वह मलिनतारहित (अनाविल), आवरण रहित, सूक्ष्म, अनुपम और शब्द वर्णन (उपन्यास) विहीन है। वह सारवान, अभेद्य, अप्रपञ्च है (सब प्रकार के प्रपंच वाग्व्यापार के उपालम्भों से अतीत, अत्यंत निष्ठा का (परम स्थिरता) एवं सर्वव्यापक (सर्वत्रानुग) है।[550]

इस परमार्थ संबंधी धर्मचक्र को सब धर्मों की प्रकृति/स्वभाव मानते हुए संदर्शन (अभिव्यक्ति),

---

542. मज्झिम नि. (ना.), जि. 1, पृ. 157; जि. 2, पृ. 179

543. व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।

परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते। -माध्य, का., 24/10

544. इतिवुत्तक, सुत्त 43

545. मज्झिम् नि., जि. 3, पृ. 245; माध्य. का. 13/1

546. उदान सुत्त, 10

547. संयुक्तनि., जि. 1, पृ. 15

548. ललितवि., परि. 26. पृ. 773

549. ललितवि., पृ. 790

550. वही, पृ. 791

विभव (लय होने), अनुत्पाद (अनुद्भव), अनालय, शून्यता, अनिमित्त, संस्कारों का अभाव, विवेक के रूप में वर्णित किया है।[551] अन्य स्थान पर कहा है कि वह केवलभाव, भूत कोटि (परमार्थ ज्ञान) के अंत को क्षुब्ध न करने वाला, असंग (अनासक्त व अनावरण), अप्रमेय (सब प्रमाणों से परे), असंख्येय (संख्याओ से रहित), अचिंत्य (चित्त के पथ से अत्यंत दूर), अतुल्य (तुलना रहित), अनभिधेय व अतीत है।[552]

इस प्रकार परमसत्ता के रूप में धर्म को परमार्थ के रूप में मानते हुए उस परमतत्व के बारे में कहा है कि वह अप्रमाण, उपमारहित, आकाश सदृश, उच्छेद से हीन (नित्य), अशाश्वत (अनित्य), अविरुद्ध, शांत तत्व (वैसा का वैसा रहने वाला), अवितथ (मिथ्या न होने वाला), अनन्यथ (अन्यथा न होने वाला स्वभाव से न बदलने वाला) है।[553]

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म में परमसत्ता को 'धर्म के रूप में वर्णित करते हुए विभिन्न कल्पनाओं, शब्दों से रहित, पूर्वापर अंतवादों से रहित, अविश्लेषित, भाव-अभाव से पूर्णतया मुक्त, आत्मभाव एवं अनात्मभाव से रहित प्रकृति से अजातिवाद का निर्देश करने वाला, आकाशतुल्य कहा है।[554] यह परमसत्ता (धर्म) 'भूतकोटि (सत्यकोटि) होकर भी जो अकोटि (वाद रहित) है, तथता की जो तथता (सत्ता का अस्तित्व/होना) है एवं अद्वैत धर्म को जो बताता है ऐसा धर्मचक्र (बुद्धों द्वारा) कहा गया है।'[555]

यह स्पष्ट है कि परमतत्व रूपी 'धर्म' शब्द को तर्क और वाणी से परे अगोचर माना गया है। जिस प्रकार हिन्दू धर्म में 'ब्रह्म' शब्द परमसत्ता/परमार्थवाची है उसी प्रकार बौद्ध धर्म में 'धर्म' शब्द का प्रयोग भी परमसत्ता/परमार्थवाची माना है। निष्प्रपंच परम सत्य निर्गुण ब्रह्म की भांति 'धर्म' भी निष्प्रपंच, निर्गुण, निराकार, निर्विकार, परमसत्य एवं अवर्णनीय है। अतः हेतु के प्रत्यय से उत्पन्न सब प्रत्यय पदार्थ-चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन आदि अनित्य दुःख, शून्य, निश्चेष्ट स्वभाव के हैं।[556] अतः सब द्वादश प्रत्यय भावाङ्ग[557] (जिनसे जन्म होता है-भव कारण, प्रतीत्यसमुत्पाद) क्षय से क्षीण होते-होते निरुद्ध हो जाते हैं।

---

551. वही, पृ. 791

552. वही, पृ. 791-792

553. ललितवि., पृ. 792

554. 'आकाशेन सदा तुल्यं निर्विकल्पं प्रभास्वरं।
अनंतमध्यनिर्देशं धर्मचक्रमिहोच्यते।।'
अस्ति-नास्ति विनिर्मुक्तम् आत्म्य-नैरात्म्यवर्जितं।
प्रकृत्याऽजातिनिर्देशं धर्मचक्रमिहोच्यते।।' ललितवि., परि. 26/1476-77

555. 'भूतकोटीमकोटीं च तथतायां तथात्वतः।
अद्वयो-धर्म-निर्देशो धर्मचक्रं निरूच्यते।।' -वही, परि. 26/1478

556. वही, परि, 26/1451-53

557. अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण-वही, परि. 26/1458

इस निर्वाण एवं प्रतीत्यसमुत्पाद (दुःख की परमकारणता एवं दुःख संवेदन की व्यवहार/कार्य प्रणाली के रूप में जन्मादि) को समझ लेना और भावाङ्गों का निरोध करना ही धर्म है। अतः परमसत्ता की परमार्थवाचकता इन दोनों में गृहीत मानी गयी है। द्वैत को नहीं माना गया है। बौद्ध धर्म में प्रतीत्यसमुत्पाद का निरोध निर्वाण है और उसका गौणरूप जगत् का कार्य-कारण नियम के रूप में अविद्या से जरा-मरण तक चक्राकार रूप में उत्पत्ति को माना है। पर अंततः ये सब निरुद्ध हो परमार्थ सत्-धर्म/निर्वाण/परमसत्ता बन जाते हैं। अतः कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म में परमसत्ता के रूप में धर्म को मानते हुए उसे निर्गुण, नित्य (ध्रुव), अनुपम, परमसत्य माना है।

त्रिपिटकों में कई स्थानों पर ईश्वर द्वारा सृष्टिकर्तृत्व का निषेध किया गया है। उनके अनुसार संसार दुःखमय है[558] अतः संसार के दुःखों को देखकर कैसे दयालु, पूर्ण, सर्वशक्तिमान, उदार एवं सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता मानी जा सकती है। ऐसी धारणा अपने में आप एक विरोधाभास है। वे नित्य ईश्वर के सृष्टिकृर्तत्व का विरोध करते हुए अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं।[559] परंतु यह ध्यान देने योग्य है कि नित्य परमतत्व का निषेध नहीं किया गया है उसे सर्वव्यापक माना गया है और गहन अर्थों में उत्पत्ति व लय, जन्म-मरण आदि को प्रतीत्यसमुत्पाद से संबंद्ध माना है। यह प्रतीत्यसमुत्पाद भी अंततः धर्म [जो परमतत्व या परमसत्ता (परमार्थ) के रूप में मान्य किया गया है] से ही संग्रहीत है।[560] अतः जगत में जो कुछ है वह सब उस परमतत्व के द्वारा माना जा सकता है।

बौद्ध धर्म में इस लोक से परे देवताओं की सत्ता को स्वीकार किया गया है। कहा गया है कि 'इंद्र अप्रमाद के द्वारा देवताओं में श्रेष्ठता को प्राप्त हुए। सभी अप्रमाद की प्रशंसा करते हैं। प्रमाद सदैव निंदनीय है।'[561] 'हम लोग जिनका कुछ नहीं है, सुखपूर्वक जीवित रहें। आभास्वर देवों (ब्रह्मलोक के अंतर्गत एक प्रकार के देवता-जिनके शरीर से ज्योति (आभा) विस्फुरित होती है) के समान हम प्रीतिभक्षण (पीतिभक्खा-उन देवों के लिये स्थूल वस्तु भोज्य की आवश्यकता नहीं होती है केवल आनंद-प्रीति से उनकी रक्षा होती है) करने वाले बनें।'[562] 'सत्य बोलें। क्रोध न करें। मांगे जाने पर थोड़ा भी देवें। इन

---

558 महावग्ग, सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, जि. 8, पृ. 95-96

559. Carus, Paul, The Gospel of Buddha, P. 66-67

560. ललितवि., परि. 24/1283-1284

561. धम्मपदं, 2/30

562. वही, 15/200; आभास्सरा की व्याख्या हेतु-विभग्ङट्ठकथा, पृ. 528; विशेष विवरण Dictionary of Pali proper Names, First Part, P. 278-280

तीन स्थानों से देवताओं के समीप जावें।'[563] 'सुवर्ण की मुद्रा के समान उसकी कौन निंदा कर सकता है? देवता भी उसकी प्रशंसा करते हैं तथा वह ब्रह्मा से भी प्रशंसित हैं।[564] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म परंपरा में देवताओं की सत्ता (जो ईश्वरीय गुणों से युक्त हैं) को स्वीकार किया गया है और मानव जीवन के विकास के लिये वे आदर्शरूप में स्वीकृत हैं।

महायान संपद्राय में बुद्ध के तीन उपास्य रूप 'त्रिकाय' के रूप में माने गये हैं। ये हैं-धर्मकाय, संभोगकाय एवं निर्माणकाय।[565] धर्मकाय निरपेक्ष सार्वभौमिक दृष्टिकोण से अनुभवतातीत चेतना माना गया है। धर्म ही उसका वास्तविक स्वरूप है। इसमे शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति एवं विमुक्तिज्ञानदर्शन को माना है। यह समस्त द्वैत से व तर्क से परे परमार्थ रूप-संबुद्ध/ब्रह्म/धर्मभूत-धर्मकाय है। संभोगकाय ऐश्वर्यशाली योगसिद्धि रूप है। धर्मेश्वर (धर्म के ईश्वर)[566] जो उत्तम ईश्वर, पृथ्विपति, महासाहस्त्र लोकधातु के राजा हैं, जो ब्रह्मलोक में स्थित (ब्रह्मालयेऽपि स्थितै)[567] हैं। ये दिव्यीकृत मानव रूप में बोधिसत्य के उपदेशक हैं जो चेतन प्राणियों की मुक्ति के कार्य में उनकी सहायता करते हैं। निर्माणकाय मानवीय भौतिक देह युक्त ऐतिहासिक शाक्यमुनि-सिद्धार्थ-गौतम बुद्ध-जिनका कपिलवस्तु में जन्म हुआ तथा बोधिवृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त कर समस्त कर्मों का अंत होने पर निर्वाण प्राप्त किया। इसे रूपकाय भी कहते हैं यह एक प्रकार के अवतारवाद के समान है। बुद्ध के ये तीनों रूप उपास्य/पूज्य माने गये हैं।[568] उन्हें भगवंत[569], बोधिसत्व[570], अमिताभ[571] आदि नामों से संबोधित किया गया है। ललित विस्तार में बुद्ध के अवतरण को तथा धम्मपद में भी बुद्ध को उपास्य माना है।[572]

कई चिंतकों ने बौद्ध धर्म में बोधिसत्व को करुणामय, प्रेममय ईश्वर के रूप में मानने के कारण,

---

563. धम्मपद, 17/224

564. वही, 8/105; 17/230

565. 'The Three personalities of The Buddha.' The Gospel of Buddha, 18-22, P. 231; Suzuki B.L., Mahayan Budohism, P. 37

566. ललितवि, परि. 19/853; 21/1101; 26/1486

567. वही, 19/854

568. The Gospel of Buddha, P. 231; Suzuki, B.L., Mahayan Buddhism, P. 37

569. Ibid P. 20, 150, 172

570. Ibid, P. 117, 170, 171, 194, 11; Murti, T.R.V., The Central Philosophy of Buddhism, P. 286-287

571. Eitil, Handbook, P.P. 7-9; The Gospel of Buddha, P. 152-156; 5-8, P. 8

572. धम्मपद, 14/195, 196; ललितवि; परि. 5/134-147

जातक कथाओं में अवतार रूप में मानने के कारण, धर्मकाय का वर्णन निर्गुण निराकार, ध्रुव, विमुक्तिकाय, अपरिमित व अनुपम रूप में होने के कारण परमसत्तावादी एवं ईश्वरवादी माना है।[573] इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि बुद्ध/तथागत का अलौकिक ज्ञान, योगबल, लोककल्याण का कारूण्य भाव आदि से युक्त त्रिकाय रूप क्रमशः 'ब्रह्म' 'ईश्वर' तथा 'अवतार' के तुल्य माने जा सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि बौद्ध धर्म में विश्व के सृष्टा के रूप में ईश्वर की सत्ता नहीं मानी गयी है परंतु परमार्थ या धर्म के रूप में परमसत्ता को मानते हुए बुद्ध को ही धर्म, ईश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, परम आराध्य, परम रूपधारी, अमृत्यं माना है।

ख. शरीरेतर चेतना :

बौद्ध धर्म किसी नित्य, स्थायी, अमृत्य सत्ता के अस्तित्व के संबंध में मौन है। यह हम पूर्व में भी कह चुके हैं। बुद्ध द्वारा स्पष्ट कहा गया है कि 'आनंद! यदि मैं कहता कि 'आत्मा है' तो उसे उपनिषदों के शाश्वतवाद का समर्थन होता है, यदि मैं कहता कि आत्मा नहीं है तो भौतिकवादियों के उच्छेद्वाद का समर्थन होता है। वस्तुतः ये दोनों मिथ्या दृष्टि है।'[574] वे कहते हैं कि 'मैं हूं यह गलत विचार है, 'मैं नहीं हूं' यह गलत विचार है, 'मैं होऊंगा' यह गलत विचार है और 'मैं नहीं होऊंगा' यह गलत विचार है। ये गलत विचार रोग हैं, फोड़े हैं, कांटे हैं। यदि मनुष्य यह सोचे कि कहीं मैं मृत्यु के बाद विनष्ट तो नहीं हो जाऊंगा, क्योंकि ऐसा सोचेगा तो उसे अत्यंत वेदना होगी (उसे आंतरिक अशनि-त्रास होगा), ऐसे होगा जैसे हृदय पर बिजली गिर पड़ी हो-हाः! मैं उच्छिन्न हो जाऊंगा। हाः! मैं नष्ट हो जाऊंगा। हाय! मैं नहीं रहूंगा। इस प्रकार अज्ञ (अज्ञानी) पुरूष शोक करता है, मूर्छित होता है।'[575] आत्मा को शाश्वत मानने पर मनुष्य यह विचार करने लगता है कि मैं विगत जन्म में क्या था, कौन मेरा था, मैं भविष्य में क्या होऊंगा। बुद्ध की दृष्टि में ये विचार भी चित्त के विराग के लिये उचित नहीं होते हैं, इनसे राग-द्वेष और आसक्ति बढ़ती है। अतः ये अयोग्य विचार (अमानसिकरणीय धर्म) हैं।[576]

इन कथनों से यह स्पष्ट है कि उनके समय में प्रचलित आत्मा के सिद्धांतों से वे (महात्मा बुद्ध) संतुष्ट नहीं थे। अतः परिणामस्वरूप वे मौन रहे। इसी आधार पर उन्हें किसी स्थायी सत्ता मे विश्वास न करने वाला कहा गया है! किंतु धम्मपद में यह प्रस्तुत किया गया है कि यदि मनुष्य आत्मा को प्रिय

---

573. Mitra, K.N., Dynamics of Faith, P. 62; Suzuki, B.L., Outlines of Mahayan Buddhism P. 258-59; Murti, T.R.V., Central Philosophy of Buddhism, P. 289

574. माध्यका. 15/10, उद्धृत-उपाध्याय, बलदेव, बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ. 48

575. मज्झिमनि., 1/3/2

576. वही, 1/1/2

12—259 Min. of H.R.D./2005

समझता है तो इसकी अच्छी तरह रक्षा करें।[577] सभी को आत्मानुपम (अत्तानं)[578] जानकर उनको न मारे, समान व्यवहार करें। श्रीमती रिज डेविड्स ने उपनिषदों से अनुप्रेरित अनेक पालि-ग्रंथों के उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि महात्मा बुद्ध अत्ता (आत्मा) के अस्तित्व में विश्वास करते थे।[579] अनात्मवाद की सिद्धांत धारणा परवर्ती चिंतकों द्वारा विकसित की गयी है।[580] उनके इस मत से अन्य अनेक चिंतक भी सहमत हैं तथा वे बुद्ध को आत्मवादी मानते हैं।[581] आचार्य विनोबा भावे ने धम्मपद की भूमिका लिखते हुए स्पष्ट किया है कि 'बौद्ध आत्मा के अस्तित्व का विरोध करते हैं ऐसा ख्याल करना भी मेरी समझ से उनके आशय को गलत समझना है। ऐसी गलतफहमी बहुतों को हुई है और बड़े बड़ों को हुई है फिर भी वह है तो गलतफहमी ही। बौद्धों को 'मैं की भाषा नहीं चाहिये, चाहे और कुछ भी क्यों न हो। इसलिये यह भाषा भेद रुचिभेद के कारण हुआ यही समझना चाहिये। इसमें अर्थ की दृष्टि से मुझे कोई खास भेद नहीं दिखाई देता।'[582] इसी तरह पं. सुखलाल सिंघवी[583] ने यह भी दर्शाने का यत्न किया है कि बौद्धमत में आत्मा के अनस्तित्व का वह अर्थ नहीं है जो प्रायः समझा जाता है। इन सभी विद्वानों की मान्यताओं से यह स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध ने आत्मा का निषेध नहीं किया था। अपितु वे उसके विषय में मौन थे।

बहुत से विद्वान यह मानते हैं कि बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व को स्पष्टतः अस्वीकार किया है, और वे इस पद को निरर्थक मानते थे।[584] भरत सिंह उपाध्याय के शब्दों में 'हमारा विनम्र मंतव्य है कि अत्तानं गवेसेम्याथ (आत्मा को ढूंढों) में औपनिषदिक 'आत्मा' के उपदेश को देखना बेकार है, चाहे भले ही डा. राधाकृष्णन्, कुमारस्वामी और आई.बी. हार्नर ने इस प्रकार का अनाधिकार प्रयत्न किया हो।'[585]

---

577. धम्मपद, 12/157

578. वही, 10/129, 130

579-580. Rhys Davids, The Birth of Indian Psychology, P. 206-214

581. 'Self and Non Self in Early Buddhism, Jha Commemoration Vol. Poona Oriental Surs., 39, P. 485-459; स्वामी, आनंद के. कुमार एवं हार्नर, आई.बी, गौतमबुद्ध, पृ. 32-33; राधाकृष्णन्, भार. दर्शन, भाग 1 पृ. 624-631

582. भावे, विनोबा, धम्मपद (नव संहिता), भूमिका, पृ. 17

583. सिंघवी, पं. सुखलाल, भारतीय तत्वविद्या, पृ. 93-97

584- Sertchbatski, The Central Conception of Buddhism, P. उद्धृत-मधुमती, 'बौद्ध समाज दर्शन का आध्यात्मिक आधार,' परा. (हि.), जून 1985, पृ. 293, पोदपाद्वसूत्त उद्धरण (माया व रमणीय स्त्री) के रूप में आत्मा को वर्णित किया है।

585. उपाध्याय, भरत सिंह, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ. 459

राहुल सांकृत्यायन का कहना है कि यदि आत्मा को कूटस्थ नित्य मानें तो वह अनंतकाल तक सदैव एकरस रहेगा तथा सदा के लिये एकरस (एक जैसी) रहने वाले आत्मा पर अनुभवों की छाप कैसे पड़ सकती है? यदि यह माना जाए कि आत्मा पर अनुभवों की छाप पड़ सकती है तो उससे उसका रूप परिवर्तन हो जाएगा। वैसी अवस्था में उसमें इंद्रियजनित ज्ञान सर्वत्र प्रविष्ट हो जाएगा और वह द्वेष, मोहादि नाना प्रकारों में से किसी एक प्रकार का हो जाएगा। तब फिर वह वही आत्मा नहीं रहेगा जो अनुभवों से पूर्व था। अतः जब वह एक रस भी नहीं रह सकता, तब उसे नित्य कैसे माना जा सकता है? यदि आत्मा नित्य, कूटस्थ और एकरस (सदैकरस) है तो अशुद्ध होकर वह जन्म-मरण के फेर में कैसे पड़ सकता है? यदि वह स्वभावतः शुद्ध था तो उसकी मुक्ति कैसे संभव है? यदि अनुभवों की छाप के लिये मन को मानते हैं तो फिर आत्मा की क्या आवश्यकता रह जाती है?[586]

इन विद्वानों की इस मान्यता का आधार बौद्ध धर्म में पंच स्कंध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान)[587] का माना जाना है। पंचस्कंध के अतिरिक्त और कोई नित्य आत्मा बौद्ध दर्शन को मान्य नहीं है। सब कुछ क्षणिक है, दुःखमय है।[588] पंचस्कंध को अनात्म एवं अनित्य माना गया है।[589] जो कुछ मृत्यु के अधीन है वह अवश्य मरेगा। जो नाशवान है वह, अत्यावश्यक है.....। पंचस्कंधों के योग से ही जन्म होता है। विषय संबंधी बोध को संस्कार एवं चैतन्य को विज्ञान कहा गया है।[590]

किंतु इस आधार पर बौद्ध धर्म को नैरात्मवादी अथवा अनात्मवादी कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि स्वयं महात्मा बुद्ध ने अचेलकाश्यप को स्पष्ट किया था कि वे शाश्वत्वाद और उच्छेद्वाद इन दो अंतों को छोड़कर सत्य को मध्यम प्रकार से बताते हैं।[591] बुद्ध ने अपने मौन के द्वारा वस्तुतः दोनों प्रकार की एकांतिक मान्यताओं का निषेध किया है[592], आत्मा का पूर्ण निषेध नहीं किया हैं अतः डॉ. गोविंदचंद्र पांडे के अनुसार 'प्रत्युत उपनिषदों के नेति नेति' एवं सांख्यों के 'नास्मि न मे नाहं' की (मैं नहीं हूं, मेरा नहीं है) प्रतिध्वनि 'नेदं' मम न सोहमस्ति नमेसो अत्ताति' (यह भी मेरा नहीं वह भी मेरा नहीं, नहीं कोई मेरा आत्मा है) इस बौद्ध उपदेश में पायी जाती है। समस्त दैहिक और चैतसिक संस्कृत तत्वों में आत्मा का प्रतिवेध त्रिपिटक में बार-बार उपलब्ध होता है। समस्त स्कंध, धातु, आयतन, समासतः सभी भूत और

---

586. सांकृत्यायन, राहुल, मज्झिम नि., भूमिक्रा; वही, दीर्घ नि. 1/9, पृ. 67

587. संयुक्त नि., 1, पृ. 278-279

588. Mahavagg, S.B.E., Jild 13, P. 95-96

589. संयुक्त नि., 2, पृ. 295-296

590. वही, 2 पृ. 278-279

591. संयुक्त नि., 12/2/7

592. माध्य. का. 19/6

भौतिक, चित्त और चैत्त धर्मों में अनित्यता, दुःखात्मता और परतंत्रता व्यापक है। इन सभी में अनित्य, दुःख और अनात्म के लक्षण देखने चाहिये। ऐसे स्थलों में यह मान लिया गया है कि किसी वस्तु के आत्मा होने के लिये उसे नित्य सुखात्मक और स्वतंत्र होना चाहिये। ये ही आत्मा के वास्तविक लक्षण है, किंतु इनके विपरीत लक्षण व्यावहारिक जगत में उपलब्ध होते हैं। अतः उसको सर्वथा अनात्मभूत मानना चाहिये। इस प्रकार का नैरात्म का उपदेश आत्मा का सर्वथा निषेध नहीं हैं।[593]

माध्यमिक कारिका के अनुसार बुद्ध ने अपने उपाय-कौशल से विविध विनयों को उनकी बुद्धि के अनुसार, पुण्य कर्म करने के लिये आत्मवाद (जीववाद) का आदेश दिया ताकि जीव को शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता मानकर वे शुभ-कर्मों में प्रवृत्त हों। मध्य श्रेणी के शिष्यों को नैरात्म्यवाद का उपदेश दिया ताकि वे लोग अहंकार-ममकार का परित्याग कर सकें। उत्तमश्रेणी के बोधिसत्वों को उन्होंने मूल धर्म का उपदेश दिया कि जीव सद्सद्विलक्षण है एवं अपरोक्ष, अद्वय प्रपंच-शून्य बोधित्व ही तत्व है।[594] संशयरहित, असंलग्न, अमृतत्व के प्राप्तकर्त्ता को बुद्ध ब्राह्मण कहते हैं।[595] अतः इन सबसे यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म में आत्मा को न तो अस्ति कहा है और न ही नास्ति कहा गया है।

परमसत्ता के विषय में चाहे जो भी दृष्टिकोण स्वीकृत किया गया हो पर गौतम बुद्ध द्वारा अनेक विज्ञानों को मानना-उनकी अनेकत्व की धारणा का द्योतक है। वे प्राणी को संघात (स्कंध) रूप में स्वीकार करते हैं और विज्ञान के अनेकत्व के लिये प्राण अथवा जीव शब्द का बहुवचन के अर्थ में प्रयोग करते हैं। जैसे-'पंडित लोग निंदा और प्रशंसा से विचलित नहीं होते।' 'जहां अर्हंत लोग विचरण करते हैं।'[597] 'मूर्ख प्राणी नरक में गिरते हैं।'[598] बुद्ध सभी जीवों पर अनुकंपा करते हैं।[599] पुण्य ही परलोक में प्राणियों का आधार होता है।[600]

बौद्ध धर्म में अनेक बुद्धों को स्वीकार करते हुए उनके (बुद्धों के) उपदेशों का उल्लेख किया

---

593. पाण्डे, गोविन्दचंद्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ. 104

594. माध्य, का., 18/6

595. धम्मपद, 26/411

596. धम्मपद, 6/81

597. वही, 7/98

598. संयुक्तनि., मच्छरीसुत्त, 1/4/2

599. वही, उज्झानसंची सुत्त, 1/4/5

600. वही, सेरिसुत्त, 2/2/3

गया है।[601] अन्यत्र भी कहा है कि 'तथागतों का कार्य तो उपदेश देना है।'[602] इस तरह स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म में अनेक जीवों, प्राणियों व बुद्धों अथवा इनके विज्ञानों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है।

बौद्ध धर्म प्रकट रूप में आत्मा के विषय में प्रायः मौन है अतः उसने अमरता/नित्यता एवं पुनर्जन्म को 'भव संतति' (भाव चक्र) के आधार पर समझाने का प्रयास किया है। भव संतति का अर्थ अनादिकाल से प्रवाहित सातत्य (सतत रूप में)/चेतना-धारा/चित्तधारा है जो विभिन्न अनुभवों की संवाहक है। यद्यपि यह परिवर्तनशील मानी गयी है किंतु भूत, वर्तमान एवं भविष्य में इसे व्याप्त माना गया है। यह चित्तधारा पूर्वपेक्षा से अमूर्त्त भावात्मक रूप में मानी है। अतः मौन का अर्थ निषेधपरक मान लेना संगत नहीं है।

बौद्ध धर्म अनेक चित्त धाराओं को मानता है तथा एक प्रकार की चित्तधारा, जैसे-क1, क2, क3 आदि को दूसरे प्रकार की चित्तधारा जैसेः ख1, ख2, ख3 आदि से पृथक मानता है। यह क1, क2, क3 एक दूसरे से अभिन्न नहीं है और ख1, ख2, ख3 भी एक दूसरे से अभिन्न नहीं है तथापि इनमें से प्रत्येक आत्म संतान के सदस्यों के बीच जो बंधुता है वह एक चित्तधारा (आत्म संतान) के एक सदस्य और दूसरी चित्तधारा के सदस्य अर्थात् क1 और ख1 के बीच नहीं है। बौद्ध धर्म आत्मा का ऐसी स्थायी नित्य सत्ता के रूप में जो परिवर्तित होती हुई शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाओं के बीच स्वयं अपरिवर्तनशील हो-का अवश्य निषेध करता है परंतु उसके स्थान पर एक सतत प्रवाहित चेतना को स्वीकार करता है।[603] यह आत्म संतानों की प्रवाही धाराओं का सातत्य ही गतिमान अमरता के रूप में माना जा सकता है। इस निरंतर परिवर्तनशील चेतना को शरीर से पृथक माना गया है अतः शरीर के नष्ट होने पर भी यह नष्ट नहीं होती है। संतानों की उत्पत्ति एवं विनाश होता रहता है। चित्त का प्रवाह निरंतर जन्म जन्मांतर तक चलता रहता है। इस प्रकार बौद्ध धर्म 'विज्ञान संतान' की धारणा के अंतर्गत अनवरत संतति प्रवाह के आधार पर ही पुनर्जन्म को मानता है।

इस संबंध में बुद्ध कहते हैं कि 'भिक्षुओं'! जो चेतना करता है, किसी काम को करने का संकल्प करता है, किसी काम में लग जाता है, वह विज्ञान की स्थिति को बनाये रखने का आलंबन हो जाता है।'[604] जहां विज्ञान जन्मता और बढ़ता है वहां नामरूप बढ़ता है और वहीं संस्कारों की वृद्धि होती है।[605]

---

601. दीर्घनि., 2, पृ. 3; धम्मपद, 14/183

602. धम्मपद, 20/276

603. हिरियन्ना, एम., भार. दर्शन, की रूपरेखा, पृ. 146-147

604. संयुक्त नि., चेतनासुत्त, 12/4/8

605. वही, अत्थिराग सुत्त, 12/7/4

राजा मिलिंद द्वारा भदंत नागसेन से पुनर्जन्म की जिज्ञासा का समाधान करने के लिये प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्ट किया गया है कि यह नाम रूपात्मक संतति प्रवाह ही पुनर्जन्म ग्रहण करता है। वे कहते हैं कि, हे! राजन! मृत्यु के समय जिसका अंत होता है, वह तो एक अन्य नाम रूप होता है और जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है, वह एक अन्य! किंतु द्वितीय (नामरूप) प्रथम (नामरूप) से ही निकलता है।[606] बुद्ध ने साति केवट्टपुत्त को समझाया कि विज्ञान तो प्रतीत्यसमुत्पन्न है। एक जन्म के अंतिम विज्ञान (चेतना) के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है। इस कारण न तो वही जीव रहता है और न ही वह दूसरा ही हो जाता है।[607] जैसे दीपशिखा की लौ एक ही दिखाई देती है परंतु वह एक ही नहीं होती है किंतु पूर्णतः भिन्न भी नहीं, उसमें निरंतरता होती है।[608]

बौद्ध धर्म में पुनर्जन्म के संबंध में स्पष्ट मान्यताएं प्रस्तुत करते हुए कहा कि सत्व (प्राणी) अनेक जन्मों में संसरण कर अपने कर्मों का भोग करता है।[609] स्वयं बुद्ध ने कई स्थलों पर अपने पूर्वजन्म की चर्चा की है।[610] तृष्णायुक्त प्राणी को बार-बार गर्भ ग्रहण करने वाला एवं तृष्णाओं का विनाश सब कड़ियों को तोड़ने वाला माना गया है।[611] स्तरीकरण को अपनाते हुए प्राणियों को तम-ज्योति के भाग-उपभाग में वर्गीकृत कर तद्नुसार उसका भिन्न-भिन्न स्थितियों में पुनर्जन्म स्वीकार किया गया है।[612] गौतम बुद्ध कहते हैं कि 'मेरी चित्तविमुक्ति अपरिवर्तनीय (नित्य अवस्था) हुई है यह मेरा अंतिम जन्म है, अब मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा।'[613]

वे अविद्या व तृष्णा को ही जरा-मरण (संसार में आवागमन) का कारण मानते हैं।[614] इसी से पुनर्जन्म होता है[615], बद्धता होती है।[616] काम, भव और अविद्या आस्रव/बंधन के कारण हैं।[617] इन

---

606. मिलिन्दपन्हो (लक्खणपन्हो), उद्धृत-भरतसिंह, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ. 484
607. वही, पृ. 485
608. संयुक्तनि. ममसुत्त, 23/1/2
609. आचार्य, नरेंद्र देव, बौद्ध धर्म दर्शन, पृ. 284
610. संयुक्तनि., बकब्रह्मसुत्त, 6/1/4
611. धम्मपद, 11/154
612. संयुक्तनि., पुग्गलपुत्र, 3/31
613. महावग्ग, पृ. 11
614. संयुक्तनि., जनेत्ति सुत्त, 1/6/5
615. वही, अधमूल सुत्त, 21/1/3/10; पठमगदुलसुत्त, 21/2/5/7
616. वही, बंधनसुत्त, 29/3/2/5; दंडसुत्त, 14/1/9
617. संयुक्तनि, 36/6, 43/7/3, 45/5/10

समस्त तृष्णाओं तथा कर्मों के क्षय होने से मुक्ति/निर्वाण माना गया है।[618]

इस समस्त विवेचन से सारतः यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध द्वारा आत्मा के अस्तित्व के प्रश्न पर मौन रखने की चाहे जो विवेचनाएं एवं अर्थ किये गये हों, परंतु यह अर्थ निकालना उचित नहीं है कि वे आत्मा का निषेध करते हैं। इस संदर्भ में उल्लिखित ग्रंथों एवं विद्वानों की मान्यताओं से यह स्पष्ट हुआ है कि बुद्ध का मौन सकारात्मक भी और आत्मपरक भी है। इसीलिये कहते हैं कि 'मैं दुःख और दुःख निरोध पर ही अधिक जोर देता हूं।[619] कारण यह कि वे जीवन का उद्देश्य दुःख निरोध मानते हैं। उनके अनुसार तत्वशास्त्र (आत्मा, परमात्मा, सृष्टि आदि) के प्रश्नों पर उलझना व्यर्थ का सैद्धांतिक वाद-विवाद है। उन पर वाद-विवाद करना व उलझे रहना बुद्धिमत्ता नहीं है। बुद्धिमत्ता इसमें है कि मानव जीवन में जो दुःख हैं उनके कारणों को खोज कर उनके निराकरण के प्रयत्न किये जाएं। यही कारण है कि अस्ति-नास्ति के संबंध में विशेष चर्चा न करते हुए वे अपनी चित्त विमुक्ति के अपरिवर्तनशील होने की और अंतिम जन्म तथा पुनर्जन्म न होने की बात कहते हैं। यदि सब कुछ अन्ततः परिवर्तनशील हैं तो फिर वे अपनी चित्त विमुक्ति के अपरिवर्तनशील होने की बात नहीं करते। बौद्ध धर्म में विज्ञान (चित्त प्रवाह) को विविध रूप में प्रयुक्त किया गया है, आत्मा को प्रायः विज्ञान कहा है।[620] यह चित्त प्रवाह जन्म-जन्मांतर तक चलता रहता है और निर्वाण होने पर रुक जाता है।

ग. कर्मवाद :

बौद्ध धर्म में कर्म शब्द का प्रयोग क्रिया के अर्थ में किया गया है। यह कर्म को संस्कार के रूप में मानता है।[621] ये अनित्य हैं और विज्ञान से संबंद्ध होते हैं। कर्म ही जगत एवं जीव की भिन्नता और विचित्रता का कारण है।[622] कहा है कि 'जीव अपने कर्मों का स्वामी है, अपने ही कर्मों का उत्तरदायी है। कर्म ही आधार है, कर्म ही उनकी संतान (प्रवाह) और अपने कर्मों से ही उनकी स्थिति है।'[623] कर्म ही व्यक्ति के जीवन एवं भविष्य की परिस्थितियों को निर्मित करते हैं। उनसे ही सुख-दुख का अनुभव करता है, कर्म की संतति से ही परलोक मे शोक अथवा आनंद होता है।[624] इस प्रकार बौद्ध धर्म कर्म की व्यापक भूमिका को स्वीकार करता है।

618, उदान, 8/3, 1/10

619. (Mrs.) Rhys Davids, Buddhism, P. 159

620. अभि. कोश. 3/18

621. महानिद्देश, पृ. 117, उद्धृत-राधाकृष्णन्, भार. दर्शन, भाग 1, पृ. 352

622. मिलिंद प्रश्न, 3/2, अभिधर्म कोश, 4/1

623. मज्झिमनि., 3/203

624. धम्मपद. 1/15, 16

यह समुत्थान (आरंभ) कारण को प्राथमिकता देते हुए दो प्रकार के कर्म मानता है। एक चेतना कर्म जो मानसिक क्रिया-व्यापार के रूप में होते है। दूसरा चेतयित्वा कर्म-जो वाचिक एवं कायिक होते हैं।[625] सभी कर्मों का समुत्थान मन से ही होता है अतः समग्र दृष्टि से मनस कर्म/चेतना कर्म ही प्रधान हैं किंतु केवल चेतना (आशय) कर्म ही सकल कर्म नहीं है। उसमें कर्म का परिणाम भी विचारणीय होता है।[626] उसी आधार पर बंधन व मोक्ष, सुख व दुःख आदि होते हैं।

बौद्ध चिंतन में बंधन का कारण कर्मास्रव है जो तृष्णा व अविद्या (मोह) से होते हैं।[627] तृष्णा ही एक धर्म है जिसके वश सब चले जाते हैं।[628] यह महावृक्ष के समान है एवं विषयों का आहार ग्रहण करती रहती है।[629] तृष्णा के साथ ही अविद्या भी बंधन का प्रमुख कारण है। अविद्या चार आर्य-सत्यों को न समझना है। ये हैं-दुःख, दुःख समुदाय, दुःख निरोध और दुःख निरोध गामिनी/मार्ग।[630] शोध विषय की दृष्टि से इनके विस्तार में न जाकर संक्षिप्त उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा।

प्रथम आर्य सत्य के अंतर्गत जन्म, जरा, मरण, व्याधि, संयोग-वियोग, इच्छा आदि सभी दुःख है।[631] संक्षेप में पांच उपादान स्कंध दुःख हैं। अतः दुःख सत्य है और सब दुःखमय माना है। द्वितीय दुःख का समुदय/कारण है और वह है द्वादश भावचक्र या भावाङ्ग।[632] इस चक्र में अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप (संज्ञा, वेदना, संस्कार व विज्ञान-गर्भस्थ भ्रूण), नामरूप से षडायतन (पांच इंद्रियां व मन), षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादन (सब दुःख स्कंध-व्यर्थ के शीलाचार में लगे रहना, मिथ्या सिद्धांतों में विश्वास करना, स्थायी आत्मा के अस्तित्व में दृढ़ दुराग्रह करना, वासनाओं से चिपटे रहना), उपादान से भव (पुनर्जन्म के कारण), भव से जाति (जन्म/उत्पत्ति) और जाति से जरा-मरण होना माना है।[633]

---

625. नरेंद्र देव, आचार्य, बौद्ध धर्म दर्शन, पृ. 252

626. वही, पृ. 353-255

627. संयुक्ति नि., बंधनसुत्त, 1/3/5; लंकावतार सूत्र, पृ. 138 उद्धृत-आचार्य नरेंद्रदेव, बौद्ध धर्म एवं दर्शन

628. वही, तव्हासुत्त, 1/7/3

629. वही, महारुक्खसुत्त, 12/6/5

630. ललितवि., पृ. 783

631. वही, पृ. 783

632. वही, परि. 26/1458

633. वही, परि. 26/1452-1458

तृतीय आर्यसत्य के अंतर्गत दुःख निवारण को संभव मानते हुए तृष्णाः जो संसार की निवर्तिका (संसार बनाने वाली)[634] है-का निरोध करना, दुःख निरोध माना है। चतुर्थ आर्यसत्य के रूप में दुःख निवारण का उपाय अष्टांग मार्ग को माना है। यह-सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक (सत्य वचन), सम्यक् कर्मांत, सम्यक् आजीव (उचित जिविकोपार्जन), सम्यक् व्यायाम (आत्मसंयम, इंद्रियनिग्रह), सम्यक् स्मृति (यथार्थ स्मरण) व सम्यक् समाधि (चिंतन व ध्यान से शांत होकर उपेक्षा भाव उपलब्ध होना) है।[635] इन आर्य सत्यों को न समझना[636] और इसके विपरीत राग-द्वेष और मोहयुक्त (जो अविद्या व आसक्तिजन्य है) आचरण करना बंधन का कारण माना है। इसे प्रतीत्यसमुत्पाद (अर्थक्रियाकारित्व लक्षण ऐसा होने पर ऐसा होता है) को न समझकर व्यवहार करना भी कहा है।[637] इस नासमझी का त्याग कर ज्ञानपूर्वक (विद्या से) कर्म करना दुर्गतियों से मुक्त होना बताया है।[638]

स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म तृष्णा व अविद्या के आधार पर किये गये कर्मों को कर्मफलन के योग्य मानता है। शुभ कर्म पुण्य एवं सुखकर होते हैं। अशुभकर्म पाप एवं दुःखकर होते हैं। पुण्य कर्म करने वाला दोनों लोक (लोक व परलोक) में आनंदित होता है।[639] पाप कर्म करने वाला दोनों लोक में शोक करता है।[640]

बौद्ध चिंतन कर्मफलन की मान्यता में स्वर्ग व नरक/परलोक को कर्मफल के भोग की एक कड़ी के रूप में मानता है। जैसेः मूर्ख नरक में पड़ते हैं और संत स्वर्गगामी होते हैं।[641] 'पुण्य के फल से स्वर्ग और पाप के फल से नरक प्राप्त होता है।'[642] हिंसक, मिथ्याभाव, ढोंगी, पापी, असंयत, चोर, बुरे भाव वाले नरक में जाते हैं।[643] सत्य, दम, धृति व त्याग रखने वाला परलोक में शोक नहीं करता।[644] बुद्ध की शरण

---

634. वही, पृ. 783

635. वही, पृ. 783

636. संयुक्तिनि, ओद्यतरणसुत्त, 1/1/1, समुदयधम्मसुत्त, 21/3/3/1

637. दीर्घनि., 2/2; संयुक्त नि., 12/1/2

638. अंगुत्तरनि., 3/33. पृ. 137

639. धम्मपद, 1/16, 18; 9/118

640. वही, 1/15, 17

641. संयुक्त नि., मच्छरीसुत्त, 1/4/2; धम्मपद, 9/126

642. वही, आयकासुत्त, 3/3/2

643. धम्मपद, 13/176; 22/306-307, 309

644. संयुक्तनि., आबालिकसुत्त, 10-12

में आने वाले देवलोक में उत्पन्न होने वाला बताया है।[645] इस प्रकार लोक व परलोक में शुभाशुभ कर्मफलों को भोगने के बाद प्राणी को पुनः जन्मग्रहण करना होता है। कहा है कि अविद्या और तृष्णा में पड़े, जीते-मरते सत्व कभी इस लोक से उसमें और उससे इसमें पड़ते हैं।[646] तृष्णा मनुष्य को उत्पन्न करती है, उसका चित्त दौड़ता रहता है प्राणी आवागमन में पड़ता हैं, दुःख उसका सबसे बड़ा भय है।[647] इससे ही बारंबार जन्म होता है।

बौद्ध धर्म में बार-बार जन्म लेने को चार योनियों/भूमियों द्वारा निर्देशित किया है। प्रथम अपायभूमि-जो दुर्गतियों के रूप में मान्य है। जैसे-नारक, तिर्यंच, प्रेत व असुर; द्वितीय कामसुगतभूमि-जिसमें मनुष्य और कुछ देवजातियां हैं; तृतीय रूपावचर भूमि-जो विशिष्ट देव जातियां है। और चतुर्थ अरूपावचर भूमि-जो निर्वाण प्राप्त है।[648]

इस प्रकार कर्म से पुनर्जन्म को स्वीकार करते हुए कर्म विपाक की परंपरा से संसार चक्र का परिवर्तित होना माना गया है।[649] जब समस्त प्रकार के मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म पाप या अकुशल कर्म (हिंसा, चोरी, काम, दुराचार, असत्य भाषण, पिशुन वचन, कठोर वचन, व्यर्थ आलाप, लोभ, मानसिक हिंसा/अहितकर चिंतन, मिथ्या दृष्टिकोण)[650] एवं अकुशल चैतसिक कर्म (मोह, मूढ़ता, निर्लज्जता, पाप कर्म में अभय, चंचलता, तृष्णा, अहंकार, द्वेष, ईर्ष्या, चौर्य, संशय, कुकृत्य आदि) का निषेध करने से पाप कर्म नहीं होते हैं।[651] श्रद्धा, स्मृति, पाप कर्म के प्रति लज्जा व भय, अलोभ (त्याग), अद्वेष (मैत्री), समभाव, मन व शरीर की पवित्रता, इनका हल्कापन, मृदुता व सरलता आदि को पुण्य/कुशल चैतसिक कर्म कहा है।[652] जो इन पाप और पुण्य को दूर कर शांत (सम) हो गया है, इस लोक और परलोक के यथार्थ स्वरूप को जानकर (कर्म) रज रहित हो गया है, जो जन्म-मरण से परे हो गया है, वह श्रमण स्थिर; स्थितात्मा कहलाता है।[653] वह पाप-पुण्य में से किसी में भी लिप्त नहीं होता है।[654]

---

645. वही, समयसुत्त, 1/4/7

646. वही, दंडसुत्त, 14/1/9

647. वही, जनेत्तिसुत्त, 1/6/5

648. अभिधम्मत्थसंगहो, अनु. -कौशल्यायन, भदन्त आनंद पृ. 60

649. मज्झिमनि, 3/1/3; संयुक्तनि., दुतियसुत्त, 11/2/2; पठमवत्तसुत्त, 11/2/2

650. उपाध्याय, भरतसिंह, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग 1, पृ. 480

651. अभिधम्मत्थसंगहो, पृ. 19-20

652. वही, चैतसिक विभाग

653. सुत्तनिपात, 32/11

654. वही, 32/38

बौद्ध धर्म में संयम को संवर कहा है। जिसका सभी इंद्रियों का संवर हो जाता है वह संवृत्त कहलाता है तथा वह समग्र दुःखों से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।[655] अष्टांग मार्ग दुःख विनाश की ओर ले जाने वाला मार्ग है।[656] इसे क्षेमकारी शरण[657] व मध्यम मार्ग कहा है, व्यक्ति इसकी शरण में आकर (पालन कर) सब दुःखों से छूट जाता है।

बुद्ध धर्म व संघ की शरण में जाने, व सम्यक् ज्ञान से चार आर्यसत्यों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।[658] तथा निष्काम कर्म (नेक्खम) द्वारा शांति प्राप्त करता है। उन स्मृतियुक्त बुद्धों से देवता भी ईर्ष्या करते हैं।[659] जागृत (ज्ञान) हो जाने पर अनैच्छिक या तृष्णा रहित कर्म (निष्काम कर्म) का आस्त्रव नहीं होता है, स्मृतिमान व्यक्ति के चित्तमल नष्ट हो जाते हैं, वे सदैव कर्त्तव्य करने वाले होते है।[660] वे सदैव प्रबुद्ध (ज्ञानयुक्त) रहते हैं।[661] वे पूजा योग्य अर्हंत होते हैं। बौद्ध धर्म साधना मार्ग की चरम अवस्था को प्राप्त किये हुए बौद्ध श्रमण को अर्हंत[662] माना गया है। इनका पुनर्जन्म नहीं होता है क्योंकि उनके सभी आस्त्रव संपूर्ण नष्ट हो गये होते हैं।[663] यह सांदृष्टिक निर्झरा है-अकालिक (देशकाल से परे)[664] शील, प्रज्ञा और समाधि-इस त्रिविध साधना के द्वारा इनका क्षय (कर्मआस्त्रव का) माना गया है। कहीं-कहीं शील, समाधि व प्रज्ञा के स्थान पर वीर्य, श्रद्धा और प्रज्ञा का भी विधान है।[665] वीर्य शील का और श्रद्धा समाधि का प्रतीक है। इनसे चित्त मे विकल्प नहीं उठते हैं, संसार में शील ही श्रेष्ठ है, प्रज्ञा ही उत्तम है, मनुष्य और देवों में शील और प्रज्ञा से ही वास्तविक विजय होना व शोभा होना माना गया है।[666]

जिन मनुष्यों के समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है, तितिक्षा मय (शांत) हो जाता है, उनका निर्वाण

---

655. धम्मपद, 25/360-363

656. वही, 14/191

657. वही, 14/192

658. वही, 14/190

659. वही, 14/181

660. अभिधम्मत्थसंगहो, पृ. 10; धम्मपद, 21/293

661. धम्मपद; वही, 21/297

662-663. मज्झिम नि., भाग 2, पृ. 103; भाग 1 पृ. 184; दीर्घनि., भाग 3 पृ. 65

664. अंगुत्तर नि., 3/74

665. सुत्तनिपात, 28/8; 9/22

666 थेर गाथा, 1/70; मज्झिमनि., 2/3/5; धम्मपद, 2/5; संयुक्त नि., 1/13, 1/53

(निब्बान) हो जाता है।[667] यह जन्म-मरण की अभावात्मक स्थिति है, अर्थात् निवृत्ति है। इसे मोक्ष, अपवर्ग, निःश्रेयस आदि का समानार्थक भी माना गया है।[668] क्षमाशीलता परम तप एवं तितिक्षा परम निर्वाण है।[669] यह अनिर्वचनीय, अप्रहाण है[670], इसका न भाव है न अभाव है।[671]

वस्तुतः निर्वाण की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गयी है। भावात्मक व्याख्या के लिये बुद्ध कहते हैं कि भिक्षुओं! निर्वाण अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत है, वह जात, भूत, कृत और संस्कृत का व्युपशम जाना जाता है।[672] सुत्त निपात में इसे प्रणीत एवं अमृत पद[673] कहा गया है जिसे प्राप्त कर लेने से न च्युति का भय होता है, न शोक होता है। धम्मपद में इसे परम सुख[674], शांत, संसारोपशम एवं सुखपद भी कहा गया है।[675] निर्वाण की अभावात्मकता के संबंध में बुद्ध वचन है कि 'लोहे के घन की चोट पड़ने पर जो चिनगारियां उठती हैं वे तुरंत ही बुझ जाती हैं, कहां गयी कुछ पता नहीं चलता। इसी प्रकार काम बंधन से मुक्त हुए निर्वाण प्राप्त पुरुष की गति का कोई भी पता नहीं लगा सकता।'[676] काव्यात्मक भाषा में कहा है :

शरीर छोड़ दिया, संज्ञा निरुद्ध हो गयी,
सारी वेदनाओं को भी बिल्कुल जला दिया।
संस्कार शांत हो गये, विज्ञान अस्त हो गया।[677]

इस प्रकार निर्वाण की भावात्मक एवं अभावत्मक दोनों प्रकार से व्याख्याएं की गयी है तो उसे अनिर्वचनीय भी माना गया है। वह न तो कहीं ठहरा हुआ है और न ही प्रवर्तित होता है और न ही उसका कोई आधार है, यही दुःखों का अंत है[678] निर्वाण है। स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म कर्म के आधार पर ही जन्म, मरण, पुनर्जन्म, पुण्य, स्वर्ग-नरक, निर्वाण आदि की स्वीकारात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है। जो तात्विक होने की अपेक्षा स्तरीकृत मनोवैज्ञानिक नैतिकता पर आधारित है।

---

667. सुत्तनिपात, 5/99, 101, 119

668. अमरकोष, अमरसिंह, 1/5/6-7 उद्धृत-कच्छेन्दी लाल गुप्त, धम्मपद, पृ. 105 (टिप्पणी)

669. धम्मपद, 14/184

670-671. माध्य, का. वृत्ति, 521, 524

672. उदान 8/3; इतिवत्तुक, 2/2/6

673. सुत्तनिपात, 13/4

674-675. धम्मपद, 15/203-204; 368

676-677. उदान, 8/10; 8/9

678. उदान, 8/1

घ. जगत :

बौद्ध धर्म की मान्यता है कि इस जगत में कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे हम सत् कह सकें।[679] कारण कि कुछ भी ऐसा नहीं है जो क्षय और मृत्यु के अधीन न हो। बुद्ध के अनुसार जगत् में सत्ता के संबंध में 'यह है' और 'यह नहीं है' का दृष्टिकोण अपनाया जाता है पर सत्य और विवेक की दृष्टि से देखने पर स्पष्ट होता है कि संसार में वस्तुएं किस प्रकार से उत्पन्न होती हैं और विलीन हो जाती हैं-तब उसकी दृष्टि में 'यह है' और 'यह नहीं है' का भाव जगत के संबंध में नहीं रहता है। प्रत्येक वस्तु विद्यमान है, यह एक पक्ष है। प्रत्येक वस्तु 'नहीं है' वह दूसरा पक्ष है। सत्य इन दोनों का मध्य मार्ग है और इसे सद्वाद् (अनुशासन)[680] कहा है। बुद्ध ने कात्यायन व काश्यप को समझाते हुए इसे मध्यमा प्रतिपदा कहा है जो अस्तिता और नास्तिता के अथवा शाश्वत और उच्छेद के दोनों अंतों से बचाती है।[681] इस मध्यमा प्रतिपदा/ मध्यम मार्ग को ही प्रतीत्यसमुत्पाद कहा है। प्रतीत्यसमुत्पाद में संवेदन को न तो स्वतंत्र माना जाता है न परतंत्र। यह सब प्रकार के भेद-अभेद के विषय में अंत का निषेध कर उनके मध्य का उपदेश है।[682] इस प्रकार गौतम बुद्ध (तथागत) के इस मध्यम मार्गीय उपदेश का अर्थ है कि जगत प्रवाह मय है और यह प्रवाह न सत् कहा जा सकता है और न असत्।

बौद्ध धर्म में जगत व्यवस्था को कारण-कार्य संबंध की शृंखला माना है। जो प्रतीत्यसमुत्पाद पर आधारित है। प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक कार्य का कारण है। कोई भी घटना अकारण नहीं हो सकती। जो वस्तु या घटना होती है व क्षणिक या अनित्य होती है क्योंकि वस्तु की सत्ता का अर्थ है उसमें अर्थ क्रियाकारित्व लक्षण होना।[683] वस्तु के क्रियात्मक होने की दशा में वह क्षणप्रध्वंसी (क्षण भर में नष्ट) होगी क्योंकि परिवर्तन सदैव होता है।[684] चाहे वह दृश्य हो या अदृश्य हो। अतः सभी अन्य का आश्रय लेकर उत्पन्न होते हैं, स्वभाव से या अपनी शक्ति से नहीं। यह उत्पत्ति प्रकार्यात्मक निर्भरता परक हैं।[685] यह निर्भरता क्रमशः कर्म एवं उसके परिणाम (कम्मनियम), भौतिक एवं निर्जीव या जड़ की

---

679. धम्मपद, 5/47-48; मिलिन्द प्रश्न, 4/7, 12

680. ललितवि., पृ. 773

681. संयुक्तनि., 2/1/15, 17-18

682. वही, 2/1/35-37, 46-48

683. 'अर्थक्रियासमर्थ यत तदत्र परमार्थ्सत्।' - प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्षपरिच्छेद, 3; 'इदमेव हि वस्तु लक्षणं यदथाक्रेयासामर्थ्यम्, तच्चेन्निवृत्तम, तत्कथवस्तुत्वं तल्लक्षणं तेष्ववस्था लभते।' - तत्वसंग्रह पंजिका, स्थिरभाव परीक्षा, 416

684. तत्वसंग्रह पंजिका, 526

685. सौगात सिद्धांत सार संग्रह, पृ. 157

व्यवस्था (उतुनियम) वनस्पति की व ऐंद्रिय व्यवस्था (बीजनियम), चेतनामय जीव की व्यवस्था (चित्तनियम), आदर्श की व्यवस्था (धम्मनियम) के रूप में मानी है।[686] बौद्ध चिंतन इस रूप में ही जगत और संसार चक्र का होना मानता है।

बौद्ध धर्म में जगत के भौतिक पदार्थों के रूप में पृथ्वी, जल, प्रकाश (अग्नि), वायु और आकाश को माना है। बुद्ध कहते हैं कि हे आनंद, यह महान पृथ्वी जल पर आश्रित है, जल वायु पर और वायु आकाश पर आश्रित है।[687] यहां पर ध्यान रखने योग्य है कि ये भूत संवेद्य गुणों के अतिरिक्त कुछ नहीं माने हैं। ये संवेद्य गुण काठिन्य (ठोस), तारल्य (द्रव), ताप (ऊर्जा) और दबाव हैं जो आकाश (देश) में स्थित हैं। यह धर्म मानसिक दृष्टि से जगत को पंच स्कंध से भी अभिव्यक्त करता है। ये - रूप (प्राकृतिक गुण); वेदना (अनुभव-सुख, दुःख); संज्ञा (प्रत्यक्ष ज्ञान); संस्कार (मानसिक वृत्तियां एवं इच्छाएं) और विज्ञान (चेतना) हैं।[688] ये पंचस्कंध जगत के संपूर्ण घटक हैं। जगत में जो कुछ होता है वह इनके प्रवाह से ही होता है। यह एक निर्माण क्रिया है जिसका न आदि है और न अंत है। अपितु यह प्रवाह सातत्य है। अन्य शब्दों में अविच्छिन्न क्रम है। अतः कारण न कार्य का उपादन है न आरंभ। वरन् कारण की सत्ता व कार्य की सत्ता में सापेक्षता है। यही परिणामवाद, आरंभवाद आदि से विलक्षण हेतुवाद का सिद्धांत है जिससे जगत उत्पन्न होता है।

बौद्ध चिंतन क्रियमाण जगत/संसार की उत्पत्ति के संबंध में मानता है कि चेतना (विज्ञान) पहले पदार्थ के संपर्क में आती है उसके पश्चात् प्रत्यक्ष ज्ञान, भावना, ईच्छा आदि उत्पन्न होते हैं। एक संपूर्ण चेतना के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता है कि अमुक पहले आता है या बाद में आता है।[689] अपितु परस्पर निर्भरता है। यह निर्भरता प्रतीत्यसमुत्पाद मे कारण कार्य शृंखला के रूप में संतान क्रम से व्यक्त होती है। यह शृंखला अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण के क्रम में मानी गयी हैं। इस प्रकार संसार की उत्पत्ति या मूल अविद्या और भाव चक्र के मध्यवर्ती अंगों के क्रम से अंतिम फल जरा-मरण है।

संसार की उत्पत्ति में बौद्ध धर्म कर्म की प्रमुखता को मानता है। निकायों में कहा गया है कि कर्म ही जीवों का अपना है, कर्म ही उनकी विरासत, प्रभव, बंधु आदि है और कर्म ही जीवों को बांटता है, उन्हें हीन या उत्तम बनाता है।[690] इस कर्म को चेतना (चेतयित्वाकरण) रूप में माना है।[691] यह कर्म

---

686. राधाकृष्णन्, भार. दर्शन, पृ. 303-304

687. दीर्घ नि., 207, उद्धृत-राधाकृष्णन्, भार. दर्शन, भाग 1, पृ. 309

688. महावग्ग, सेक्रेड बुक ऑफ द ईस्ट, जि. 13, पृ. 95-96

689. अत्थसालिनी, पृ. 143-144, उद्धृत - राधाकृष्णन्, भार. दर्शन, भाग 1, पृ. 326

690. Pandey, G.C. Origins of Buddhism, P. 428-29

691. अभि. कोश, 4/1; माध्य. का., 17/2-3

और कर्मफल की एक अनादि और अविच्छिन्न परंपरा है जिसमें कर्म करना और उसका फलभोग दोनों प्रवाह क्रम में घटना मात्र है। इस घटनाक्रम में ही दुःख को माना गया है। बौद्ध धर्म के अनुसार यह जगत राग से उत्पन्न और दुःखमय है।[692] जन्म, मृत्यु, रोग, नाश, अप्रिय से संयोग एवं प्रिय से वियोग दुःखमय है, पंचस्कंध दुःखमय है।[693] इन दुखों का मूल कारण दुःख समुदाय है। यह दुःख समुदाय अविद्या/अज्ञान से कारण-परम्परया (कारण परंपरा से) है। इस रूप में कर्म का अनुचर/वाहक भी माना है तथा उसका जनक भी। व्यक्ति/जीव अविद्या और कर्म से उत्पन्न है। अविद्या के कारण जीवन का दुःखमय स्वरूप छिपा रहता है।

बौद्ध धर्म की मान्यता है कि सुखात्मक अनुभूतियों को व्यक्ति सुख मानता है और इस संसार को सुखमय मान लेना मिथ्या है, अविद्या है। कारण कि सुख से दुःख होता हैं भय होता है। इंद्रिय सुख के विषयों के खो जाने से भी विषाद ही होता है।[694] समस्त संसार आग से (दुःख) झुलस रहा है।[695] इसलिये वह इन दुःखों के कारण शृंखला के मूल तत्व के रूप में भाव चक्र/भावां शृंखला को मानता है। इसे प्रतीत्यसमुत्पाद भी कहा गया है।

प्रतीत्यसमुत्पाद अनुलोम और प्रतिलोम दोनों तरह से कहा जा सकता है।[696] अविद्या, तृष्णा एवं जरा-मरण के कारण संसार में बार-बार चित्त जन्म होता है अतः कर्म एवं कर्मफल/कर्मविपाक भी बना रहता है।[697] चित्त का विनाश होने पर कर्मफल संबंध का भी अभाव हो जाता है।[698] कर्म विपाक के समय शुभ-अशुभ कर्मों का नियमन करना चित्त का कार्य माना गया है। चित्त, मन एवं विज्ञान इसके पर्याय हैं।[699] चित्त कर्म विपाक के समय शुभ-अशुभ कर्मों का नियमन करता है।[700] इससे ही मानवीय संबंधों में न्याय माना है। कर्म भेद के कारण संसार में सब मनुष्य एक समान नहीं होते हैं। कुछ दीर्घ जीवी होते हैं तो कुछ अल्पजीवी, कुछ स्वस्थ होते हैं तो कुछ रोगी होते।[701]

---

692. मज्झिम नि., 1/5/4

693. वही, 1/5/4

694. धम्मपद, 16/210-214, 14/148

695. वही, 14/146

696. उदान (सत्र ग्रन्थ), पृ. 63, 64

697. चंद्रकीर्ति, प्रसन्नपदा, पृ. 131

698. वही, पृ. 131

699. नागार्जुन, मध्यमक शास्त्र, 17/1, पृ. 131

700. वही, पृ. 131

701. मज्झिम नि., 3/203

इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी कर्म भाव चक्र के कारण होते हैं और इसकी पहली कड़ी अविद्या/अज्ञान है। इससे अहंभाव उत्पन्न होता है और वह ऐहलौकिक जीवन की लालसा करता है उससे आसक्त होता है। इस आसक्ति का बनाये रखने के लिये प्राणी विभिन्न चेष्टाएं करते रहते हैं और जन्म-मरण धारण करते हैं। यह सब संतान प्रवाह से होता है अतः इस संतान प्रवाह को ही संसार चक्र कहा गया है। यह संसार चक्र उत्पत्ति, विकास और विनाश (भंग) के रूप में अनवरत चलता रहता है।

इस संसार चक्र का निरोध होना दुःख निरोध माना गया है। बौद्ध धर्म में अष्टांग मार्ग के द्वारा दुःख विनाश संभव माना है। यह वह मान्य मध्यम मार्ग है जो चरम विषय भोग एवं कठोर वैराग्यवाद के मध्य समन्वय करते हुए दुःखों के प्रतीत्यसमुत्पाद रूपी कारणों को जानकर उनके निरोध के उपाय करता है।[702] चित्त शुद्धि के सतत् प्रयास में तप को महत्वपूर्ण मानते हुए बुद्ध कहते हैं कि तप, ब्रह्मचर्य, चार आर्य सत्यों का दर्शन (ज्ञान) और निर्वाण का साक्षात्कार-ये ही उत्तम हैं।[703] इनके अनुसार सदाचरण करने वाले को धर्मधर, संस्कारों का उपशमन करने वाला कहा है। बुद्ध धर्म व संघ के आश्रय में व्यक्ति सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।[704] जो व्यक्ति भोग-तृष्णा के संस्कारों से युक्त रहता है वह संसार चक्र में जरा-मरण को प्राप्त करता रहता है। उसका आवागमन होता रहता है। इस संबंध में हम पूर्व में चर्चा कर चुके हैं अतः विस्तार में न जाते हुए यह कहना पर्याप्त है कि शुभाशुभ कर्मों के फलों का उपभोग करता हुआ विभिन्न योनियों/भवों में जन्म लेता है। अतः यह भी कह सकते हैं कि इनसे निर्मित संस्कार लेकर ही विज्ञान जन्मता है।

स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म के अनुसार मूल सत्ता सद्सद् (सद् असत् विलक्षण) है। यह भौतिक पदार्थ व स्कंध को जगत रूप में मान्य है। यह विज्ञान से ही उसकी उत्पत्ति मानता है और भाव चक्र से उसका विकास स्वीकार करता है। यह उत्पत्ति अविद्या व कर्म से मानी गयी है। इनसे ही संसार चक्र दुःख, बंधन आदि माना गया है। अष्टांग साधना से दुःख व बंधन मुक्ति को भी माना है।

3.4 बौद्ध धर्म में धर्म समभाव की अवधारणा :

i. चेतनात्मक आधार पर धर्म समभाव :

बौद्ध धर्म यद्यपि आत्मा के आधार पर चेतनात्मक एकता की व्याख्या नहीं करता है तथापि स्थूल-शरीरेत्तर विज्ञान चित्त की समानता के आधार पर सभी के चेतनात्मक समभाव की व्यावहारिक

---

702. अंगुत्तरनि., 3/151

703. सुत्तनिपात, 16/10

704. धम्मपद, 14/190-193, 20/273-276

अवधारणा को मानता है। कहा है कि जैसा मैं हूं वैसे ही ये सब प्राणी हैं और जैसे ये सब प्राणी हैं वैसा ही मैं हूं इस प्रकार सभी प्राणियों को अपने समान समझकर न स्वयं किसी का वध करें और न दूसरों से वध कराएं।[705] कारण कि सभी मनुष्यों में चेतना के स्तर पर विभिन्न प्रकार की प्रायः समान अनुभूतियों को माना है। कहा है कि 'सभी मनुष्य दंड से डरते हैं', मृत्यु से भय खाते हैं, सब मनुष्यों को जीवन प्रिय है। अपने समान सभी को जानकर मनुष्य न किसी को मारे, न किसी को मारने को प्रेरित करें।'[706]

बुद्ध ने चेतनात्मक स्तर पर समभाव को मानते हुए अहिंसा का समर्थन किया और सभी प्राणियों की हिंसा को अनार्य कर्म कहा। 'जो प्राणियों की हिंसा करता है, वह आर्य नहीं होता है सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा का पालन करने वाला ही आर्य कहा जाता है।'[707] आर्य (श्रेष्ठ) सबको अपने समान जानकर व्यवहार करते हैं, उनका आचरण समता (समानता व निष्पक्ष) का होता है और समता का आचरण करने वाले को श्रमण कहा गया है।[708] 'जैसा मैं हूं वैसे ही जगत के सभी प्राणी है। इसलिये सभी प्राणियों को अपने समान समझकर आचरण करें।'[709]

बौद्ध चिंतन में चेतनात्मक समभाव को पर्याप्त महत्ता देते हुए 'सब प्राणियों के हित का संकल्प'[710] माना गया है। सबके प्रति करुणापूर्वक लोकमंगलकारी दृष्टि मानी गयी है।[711] विश्व के सभी प्राणियों तथा जो निरीह हैं, मार्गविहीन हैं, प्रकाशविहीन (ज्ञानहीन) हैं उन सबका पथ प्रदर्शन करने, उनकी सेवा करने को आदर्श रूप में स्वीकार किया है।[712] कारण कि सभी प्राणियों में चेतनात्मक समानता है और सभी प्राणी दुःख से मुक्त होना चाहते हैं। यही कारण है कि संबुद्ध व ज्ञानी द्वारा विश्व करुणा के कारण जगती के सभी प्राणियों की सेवा करूंगा[713] का संकल्प किया गया है। केवल अपनी मुक्ति को ही सर्वोपरि नहीं माना है। इसलिये कहा है कि जिस प्रकार पृथ्वी, अग्नि आदि भौतिक वस्तुएं संपूर्ण आकाश (विश्वमंडल) में बसे प्राणियों के सुख का कारण होती है उसी प्रकार मैं आकाश के नीचे रहने

---

705. सुत्तनिपात, 3/37/27

706. धम्मपद, 10/129-130; सुत्तनिपात, 129

707. धम्मपद, 19/270

708. वही, 26/388, तुलना-उत्तरा. सू., 25/30-33

709. सुत्तनिपात, 3/37/7

710. इतिवुत्तक, 2/2/9

711. मज्झिम नि., 1/3/6; बोधिचर्या; 8/105-108

712. बोधिचर्या, 3/17-18

713. वही, 3/18

13—259 Min of H.R.D./2005

वाले सभी प्राणियों को उपजीव्य बनकर रहना चाहता हूं, जब तक कि सभी प्राणी मुक्ति प्राप्त न कर लें।[714] स्पष्ट है कि यह वैश्विक करुणा का भाव चेतनात्मक समानता के आधार पर बिना किसी भेदभाव के सबकी मुक्ति का भाव है।

लंकावतार सूत्र में बोधिसत्व से यहां तक कहलवाया गया कि मैं तब तक परिनिर्वाण में प्रवेश नहीं करूंगा जब तक कि विश्व के सभी प्राणी विमुक्ति प्राप्त न कर लें।[715] बुद्ध ने बिना किसी भेदभाव के अपने भिक्षुओं को लोकहित का ही संदेश दिया और कहा कि हे भिक्षुओं, बहुजनों के हित के लिये, बहुजनों के सुख के लिये, लोक की अनुकंपा के लिये, देव और मनुष्य के सुख और हित के लिये परिचारण करते रहो।[716] मुझ शक्तिशाली पुरुष का अकेले तर जाने से क्या लाभ? मैं तो सर्वज्ञता प्राप्त कर देवताओं सहित इस सारे लोक को तारूंगा।[717]

महात्मा बुद्ध के इन विचारों से यह स्पष्ट होता है कि वे समग्र मानव जाति के लिये ही नहीं अपितु विश्व चेतना के साथ स्वयं को आत्मसात करने को महत्वपूर्ण मानते हैं। इसका प्रमुख कारण प्रज्ञा, शील और समाधि-साधना से जागृत समभावात्मक चेतना बोध अथवा समदृष्टि है। इसलिये कहा गया है कि जिस प्रकार निरात्मक (अपनेपन के भाव रहित) निज शरीर में अभ्यासवश अपनेपन का बोध होता है, वैसे ही दूसरे प्राणियों के शरीरों में अभ्यास से क्या अपनापन उत्पन्न न होगा? अर्थात् दूसरे प्राणियों के शरीरों में अभ्यास से ममत्वभाव अवश्य ही उत्पन्न होगा, क्योंकि जैसे हाथ आदि अंग शरीर के अवयव होने के कारण प्रिय होते हैं, वैसे ही सभी देहधारी जगत के अवयव होने के कारण क्यों नहीं प्रिय होंगे,[718] अर्थात् वे भी उसी जगत् के, जिसका मैं अवयव हूँ, अवयव होने के कारण प्रिय होंगे, उनमें भी आत्मभाव होगा और यदि सबमें प्रियता एवं आत्मभाव उत्पन्न हो गया तो फिर दूसरों के दुःख दूर किये बिना नहीं रहा जा सकता है, क्योंकि जिसका जो दुःख है वह उससे स्वयं को बचाने का प्रयत्न तो करता ही है। समाज का कोई भी प्रज्ञायुक्त सदस्य आत्मबोध होने पर दूसरे प्राणी का दुःख दूर किये बिना नहीं रह सकता है क्योंकि वह उसे अपना ही अवयव समझता है।[719] अतः बौद्ध धर्म में लोकहित का वही रूप आचरणीय स्वीकार किया गया है जिससे स्वीकृत नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों का हनन न होता हो।[720]

---

714. 'भवेयमुपजी व्योऽहं यावत्सर्वे न निवृताः।' - वही, 3/20-21

715. लंकावतार सूत्र, 66/6

716. महावग्ग, 1/10/32

717. जातक अठ्ठकथा-निदान कथा

718. बोधिचर्या, 8/114-115

719. वही, 8/99-110

720. धम्मपद, 12/165-166

आचरण शुद्ध रहता हो।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म चेतनागत एकता के आधार पर-स्व पर कल्याण, आत्मार्थ और परार्थ, ध्यान और सेवा को मान्यता प्रदान करता है। वह समान चेतना भाव के आधार पर सभी के प्रति करुणा, मुदिता, मैत्री के भावों से कार्य करना कर्त्तव्य समझता है।

ii अनासक्त (राग-द्वेष से परे, निष्पक्ष) भाव के आधार पर धर्म समभाव :

बौद्ध धर्म के आचार दर्शन में प्रत्येक साधन पक्ष का सम या सम्यक् होना आवश्यक माना गया है। 'सम्मा' शब्द 'सम' अथवा सम्यक् दोनों को अपने में धारण करता है। सम्यक् शब्द का प्रयोग अच्छे के अर्थ में करते हुए राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठने अथवा राग-द्वेष का प्रहाण (विनष्ट करना) ही समत्व योग की साधना का लक्ष्य है। राग-द्वेष का परित्याग समाधि की सिद्धि मानी गयी हैं और जब तक चित्तवृत्तियां (राग-द्वेष के क्लेश) सम नहीं होती है तब तक समाधि का लाभ नहीं होता है। यह मन, बुद्धि व आचरण तीनों को सम बनाने का निर्देश देता है। इससे समद्रष्टा का भाव विकसित होता है। इसके विकास से व्यक्ति अथवा साधक किसी मत या वाद में नहीं रहता है और विपरीत स्थितियों में भी उसका आचरण सबके प्रति सम (एक जैसा/समान) व अनासक्त रहता है।[721]

'आर्यों का मार्ग सम है, आर्य विषम स्थिति में भी सम आचरण करते है।'[722] यह कहा गया है कि जो सभी प्राणियों के प्रति दंड का त्याग कर चुका हो और सभी के प्रति मैत्री भाव रखता हो वह चाहे गृहस्थ ही क्यों न हो वस्तुतः श्रमण है।[723] इस प्रकार राग-द्वेष एवं मोह का उपशम होने पर माध्यस्थ भाव या उपेक्षा भाव उत्पन्न होता है तथा प्रिय-अप्रिय, सुख-दुख आदि के प्रति समभावपूर्ण आचरण विकसित होता है। वस्तुतः बौद्ध चिंतन में माध्यस्थवृत्ति एवं मध्यम मार्ग की स्वीकृति एक प्रकार से अष्टांगमार्ग; समत्व योग से विकसित समभाव ही है।

iii अन्य धर्मों/मतों के प्रति धर्म समभाव :

बौद्ध धर्म में अन्य धर्मों के प्रति समभाव की स्पष्ट विचारणा मिलती है। यह सत्य को अनेक पहलुओं के साथ देखने को विद्वता मानता है। जो सत्य का एक पहलू ही देखता है, वह मूर्ख है।[724] पंडित तो सत्य को सौ (अनेक) पहलुओं से देखता है। वैचारिक आग्रह और विवाद का जन्म एकांगी दृष्टिकोण से होता है, एकांगदर्शी ही आपस में झगड़ते हैं और विवाद में उलझते हैं।[725]

---

721. संयुक्त नि., 1/1/8; सुत्तनिपात, 3/37/4-5
722. संयुक्त नि., 1/2/6
723. धम्मपद, 10/42
724. थेरगाथा, 1/106
725. उदान, 6/4

बौद्ध धर्म द्वारा मताग्रह, पक्षाग्रह या एकांगी दृष्टिकोण पर आधारित सत्य की उद्घोषणाएं राग के ही रूप माने गये हैं। बुद्ध के द्वारा अन्य धर्मों के प्रति समभाव का दृष्टिकोण अपनाते हुए कहा गया है कि 'जो अपनी दृष्टि से दृढ़ाग्रही हो वह दूसरों को मूर्ख बताता है, दूसरे धर्म को मूर्ख और अशुद्ध बताने वाला वह स्वयं कलह का आह्वान करता है। किसी धारणा पर स्थित हो, उसके द्वारा वह संसार में विवाद उत्पन्न करता है। जो सभी धारणाओं (मताग्रहों) को त्याग देता है, वह मनुष्य संसार में कलह नहीं करता।'[726]

सुत्तनिपात में भी कहा गया है कि मैं विवाद के दो फल बताता हूं। एक, यह अपूर्ण या एकांगी होता है; दूसरे, वह विग्रह या अशांति का कारण होता है। निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझने वाले यह भी देखकर विवाद न करें। साधारण मनुष्यों की जो कुछ दृष्टियां हैं, पंडित (ज्ञानी) इन सब में नहीं पड़ता। दृष्टि और श्रुति को ग्रहण न करने वाला, जो आसक्तिरहित है वह क्या ग्रहण करे। (लोग) अपने धर्म को परिपूर्ण बताते हैं, और दूसरे के धर्म को हीन बताते हैं इस प्रकार भिन्न मत वाले ही नाना विवाद करते हैं और अपनी धारणा को ही सत्य बताते हैं। यदि कोई दूसरे की अवज्ञा या निंदा से हीन हो जाए तो धर्मों में श्रेष्ठ नहीं माना जाता है। किंतु जो किसी वाद में आसक्त है वह शुद्धि को प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह किसी दृष्टि विशेष को मानता है। विवेकी ब्राह्मण तृष्णा दृष्टि में नहीं पड़ता। वह तृष्णा-दृष्टि का अनुसरण नहीं करता। मुनि या साधु इस संसार में समस्त ग्रंथियों को छोड़ देता है। वह वादियों में पक्षपाती नहीं होता। अशांतों में वह परम शांत उनकी उपेक्षा करता है जिन्हें अन्य अशांत ग्रहण करते हैं।[727]

अतः इनसे स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म मध्यम मार्ग की दृष्टि के साथ एकांतवाद का समग्र निषेध करते हुए उदार व्यापक दृष्टि अपनाता है। वह अन्य धर्मों की सत्यता का निषेध नहीं करता है वरन् उन्हें भी सत्य मानता है। वह सभी धर्मों के प्रति निष्पक्ष समभाव अपनाते हुए उनके प्रति आदर करने को महत्व देता है और उनकी निंदा का निषेध करता है।

बौद्ध धर्म विचारणा में धर्मसमभाव की अवधारणा में ज्ञान अथवा विवेक को पर्याप्त महत्व दिया गया है। वह मात्र श्रद्धा अथवा विश्वास के आधार पर धर्म समभाव (अन्य धर्मों के प्रति आदर व सम्मान) को नहीं मानता है। कहा गया है कि 'जिन्होंने धर्मों को ठीक प्रकार से (अच्छी तरह) जान लिया है, जो किसी मत, पक्ष या वाद में नहीं हैं वे संबुद्ध है, समद्रष्टा है। उनका आचरण सदैव (सम-विषम परिस्थितियों में) सम रहता है।[728] वे श्रद्धा व प्रज्ञा दोनों को महत्वपूर्ण मानते हैं। लेकिन बौद्ध धर्म में

---

726. सुत्तनिपात, 50/16-17

727. सुत्तनिपात, 51/2-3, 10, 11, 16-20

728. संयुक्त नि., 1/1/8

श्रद्धा मात्र आस्था (विश्वास) नहीं है वरन् अप्रमत और विचक्षण पुरुष की प्रज्ञा है, अर्हंतों (प्रबुद्ध, ज्ञानवान) के धर्म में श्रद्धा है।[729]

स्वयं बुद्ध की दृष्टि में प्रज्ञा प्रथम स्थान पर है और श्रद्धा द्वितीय स्थान पर। वे कहते हैं कि श्रद्धा व्यक्ति की साथी है और प्रज्ञा उस पर नियंत्रण करती है।[730] श्रद्धा से ज्ञान बड़ा है।[731] इसलिये कहा गया है कि 'जो मनुष्य एकाएक कोई कार्य करता है, उससे वह धर्मात्मा नहीं हो जाता। जो अर्थ-अनर्थ दोनों का निश्चय करता है, वह पंडित है।'[732] 'जो मनुष्य विचारपूर्वक समान धर्म से दूसरों का पथ प्रदर्शन करता है, जो धर्म द्वारा रक्षित है तथा मेधावी है, वह धर्मिष्ठ कहा जाता है।'[733] जो मनुष्य तुला के समान ग्रहण करके अच्छे बुरे का विचार कर तौलता है (तथा) अच्छे को ग्रहण करता है, वह पंडित है।'[734] सांसारिक लाभों को प्राप्त करने का (सुख, प्रशंसा आदि) मार्ग दूसरा है तथा निर्वाण की ओर ले जाने का मार्ग दूसरा है। इस प्रकार इसे जानकर बुद्ध का श्रावक भिक्षु सत्कार का अभिनंदन न करें और विवेक को सुदृढ़ बनायें।[735]

स्वविवेक को महत्व देते हुए महात्मा बुद्ध कहते हैं कि 'हे! कालमों तुम किसी बात को इसलिये स्वीकार मत करो कि यह बात अनुश्रुत है, केवल इसलिये मत स्वीकार करो कि यह बात परंपरागत है, केवल इसलिये मत स्वीकार करो कि यह बात इसी प्रकार कही गयी है, केवल इसलिये मत स्वीकार करो कि हमारे धर्मग्रंथ (पिटक) के अनुकूल है, केवल इसलिये मत स्वीकार करो कि यह तर्क सम्मत है, केवल इसलिये स्वीकार मत करो कि यह न्याय (शास्त्र) सम्मत है, केवल इसलिये मत स्वीकार करो कि इसका आकार प्रकार (कथन का ढंग) सुंदर है, केवल इसलिये मत स्वीकार करो कि यह हमारे मत के अनुकूल है, केवल इसलिये मत स्वीकार करो कि कहने वाले का व्यक्तित्व आकर्षक है, केवल इसलिये मत स्वीकार करो कि कहने वाला श्रमण हमारा पूज्य है। हे कालमों! (यदि) तुम जब आत्मानुभव से अपने आप ही यह जानों कि ये बातें अकुशल हैं, ये बातें सदोष हैं, ये बाते विज्ञ पुरुषों द्वारा निंदित हैं, इन बातों के अनुसार चलने से अहित होता है, दुःख होता है-तो हे कालमों, तुम उन बातों को छोड़ दो।'[736]

---

729. सुत्तनिपात, 10/6

730. संयुक्त नि., 1/1/59

731. वही, 4/41/8

732. धम्मपद, 19/256

733. वही, 19/257

734. वही, 19/268

735. वही, 5/75

736. अंगुत्तर नि., 3/65

इन समस्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि महात्मा बुद्ध ने धर्मावलंबियों को प्रज्ञा के आधार पर/स्वविवेक के आधार पर समीक्षा कर उचित धर्म का पालन करने का संदेश दिया था।[737] उनके अनुसार श्रद्धा एवं विवेकपूर्ण समन्वय ही प्रबुद्ध कल्याणकारी मार्ग है। समभावपूर्ण चिंतन व व्यवहार से मानव अथवा साधक का आंतरिक व बाह्य संतुलन प्रतिबिंबितं होता है। अतः बौद्ध धर्म में चेतनात्मक आधार पर, राग-द्वेष से परे समान भाव के आधार पर एवं विवेकपूर्ण तुलना के आधार पर समभाव एवं धर्म समभाव को माना गया है।

विश्व के प्रमुख पौर्वात्य धर्मों में धर्म के प्रत्ययों एवं समभाव व धर्म समभाव की धारणाओं का विवेचन करने के बाद उल्लेखित आधारों पर अब तुलनात्मक चर्चा करना प्रासंगिक होगा।

3.4 धर्म समभाव का तुलनात्मक अध्ययन :

विश्व के मानव प्रमुख पौर्वात्य धर्मों के धार्मिक प्रत्यगों एवं धर्म समभाव के मान्य आधारों के आधार पर सैद्धांतिक विवेचन प्रस्तुत करने के पश्चात उनके धार्मिक प्रत्ययों तथा धर्म समभावपूर्ण चिंतन का तुलनात्मक विवेचन करना प्रासंगिक होगा।

भारत में विकसित हिन्दू, जैन एवं बौद्ध धर्म परंपराएं अपनी भिन्न-भिन्न कालिक परिस्थितियों में विकसित होने के कारण भिन्न-भिन्न धर्मों के रूप में प्रतिष्ठित हुई हैं तथापि तुलनात्मक दृष्टि से इनमें कुछ समान भाव वाली विचारधाराएं भी दृष्टिगत होती हैं उनके आधार पर उनमें परस्पर समन्वय किया जा सकता है। जैसे–

पौर्वात्य धर्म चिंतन के तीनों प्रमुख धर्म-हिन्दू, जैन एवं बौद्ध की कालगत भिन्नता के कारण परमसत्ता/परमतत्व के प्रत्यय के संबंध में विरोधी मान्यताएं प्रतीत होती हैं। अतः प्रायः हिन्दू धर्म ईश्वरवादी और जैन व बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी धर्म भी कहा जाता है। यह स्पष्ट होता है कि वैदिक परंपरा से विकसित हिन्दू धर्म जिस परमसत्ता को मान्यता देता है उसे ईश्वर कहा गया है लेकिन श्रमण परंपरा से विकसित जैन और बौद्ध धर्म में जिस परमतत्व को माना गया है वह ईश्वर सृष्टिकर्त्ता के रूप में न होकर निर्वाण रूप है। इस आधार पर स्पष्ट होता है कि परमतत्व/परमसत्ता के संबंध में देश-काल की भिन्नता होने से चाहे जो मान्यताएं रही हों और चाहे जिस रूप में उसे विवेचित किया गया हो परंतु परमतत्व की धारणा उपर्युक्त सभी धर्मों में पायी जाती है।

---

737. मज्झिम नि., 1/5/7; 1/4/8

हिन्दू, जैन और बौद्ध इन तीनों धर्मों में परमतत्व विवेचन के साथ देवताओं की सत्ता[738] एवं पूजा अर्चना आदि के द्वारा उपासना करने में विश्वास किया गया है। हिन्दू धर्म ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, आदर्श एवं अवतार रूप मानता है तो जैन धर्म अन्य निर्वाण प्राप्त तीर्थंकरों, अर्हंतों, जिनेंद्र महावीर को तथा बौद्ध धर्म में निर्वाण प्राप्त संबुद्धों, अर्हंतों एवं महात्मा बुद्ध को अवतार, बोधित्व, तथागत, अमिताभ आदि के रूप में उपास्य मानते हुए आदर्श माना गया है।[739] हिन्दू धर्म में महावीर व बुद्ध को भी अवतार के रूप में महत्ता दी गयी है।[740]

इन धर्मों में शरीर, इंद्रियां और उनके भौतिक विषयों को अनित्य व नश्वर माना गया है। हिन्दू और जैन धर्म दोनों ही शरीरेत्तर चेतना/आत्मा (जिसे जैन धर्म जीव कहता है) को नित्य, अमृत्य एवं शाश्वत् मानते हैं। दोनों के अनुसार शरीर नष्ट हो जाता है किंतु आत्मा कहीं भी नष्ट नहीं होता है।[741] बौद्ध धर्म शरीरेत्तर चेतना के रूप में चैतन्य प्रवाह की निरंतरता को मानता है एवं आत्मा तथा अगाध अमृत तत्व शब्द का प्रयोग कर एक प्रकार से पूर्णतः अनात्मवादी होने का निषेध करता है।[742]इसके अतिरिक्त यह स्पष्टतः यह तो मानता ही है कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी विज्ञान प्रवाह निरंतर (सदैव) बना रहता है।[743]

पूर्व विवेचित तीनों पौर्वात्य धर्म मरणोत्तर जीवन और पुनर्जन्म की मान्यता में विश्वास करते हैं।[744] इस मान्यता के अनुसार पुनर्जीवन होना माना गया है। हिन्दू व जैन धर्म जीवात्मा के जन्म-मरण को बंधन और मोक्ष को मुक्ति या निर्वाण होना स्वीकार करते हैं तो बौद्ध धर्म चेतना प्रवाह के निरंतर भाव-चक्र में बने रहने को तथा उससे जन्म-मरण का होना बंधन अथवा दुःख मानते हैं और भाव-चक्र के अवरुद्ध हो जाने को निर्वाण मानते हैं। लेकिन तीनों ही धर्म व्यक्ति/जीवात्मा के संदर्भ में ही बंधन व

---

738. ऋग. 7/75/3; 8/41/3; 7/63/2; गीता, 7/20-23 भग. सू., 12/9/461; धम्मपद, 2/30; 15/200

739. गीता, 10/20-37; 7/16, 20; भागवत पु. 9/9/50; हरिवंशपु; 4004; योगशास्त्र, 3/121-131; The Gospel of Buddha, 18-22, P. 231

740. भण्डारकर, आर.जी., वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ. 48

741. गीता 2/20, 24; मत्स्य पु., 154/181; नियम सार, 102, 411

742. अत्तायां चे पियं जञ्ञा नंक्खेय्यं नं सुक्खितं।

तिण्णमञ्ञतरं यामं पटिजग्गेय्य पंडितो।। -धम्मपद, 12/157; 26/411

(यदि मनुष्य आत्मा को प्रिय समझता है तो इसकी अच्छी तरह रक्षा करे। पंडित मनुष्य रात्रि के तीनों धामों में जागते रहते हैं)

743. संयुक्त नि., ममसुत्त, 23/1/2

744. ऋग., 10/58/7, 4/27/1; गीता, 8/1; उत्तरा., सू., 3/3-5 मज्झिम नि., 1/3/1